परिवेश की चुनौतियां और साहित्य

डॉ० हेतु भारद्वाज
हिन्दी विभाग
राजकीय महाविद्यालय
नीमकाथाना

पंचशील प्रकाशन, जयपुर

राजस्थान साहित्य अकादमी
के आर्थिक
सहयोग से प्रकाशित



प्रकाशक : पंचशील प्रकाशन
फिल्म कॉलोनी, जयपुर-302003

संस्करण : प्रथम, 1984

मूल्य : पच्चीस रुपये मात्र

मुद्रक : शीतल प्रिन्टर्स
फिल्म कॉलोनी, जयपुर-302003

Parivesh Ki Chunautiyan Aur Sahitya — *By* : Hetu Bhardawaj
Price Rs. 25.00

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक में सकलित निबंध समय-समय पर लिखे गये हैं, गोष्ठियों में पढ़े गये है तथा 'कल्पना', 'बिन्दु', 'मधुमति', 'इबारत', 'वातायन', 'तटस्थ' 'दस्तावेज' आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं। प्रतिपाद्य की दृष्टि से ये निबंध न तो एक खास क्रम में लिखे गये है न किसी विशिष्ट योजना के अन्तर्गत। तथापि ये निबंध साहित्य और मानव-जीवन के परस्पर रिश्तों की खोज का प्रयास तो करते ही हैं, ऐसा लेखक को लगता है।

लेखक साहित्य को मानव-जीवन से अलग करके नहीं देखता। इन निबंधों में भी उसकी कोशिश यह जानने की रही है कि मानवीय-मूल्यों की स्थापना और उनका संरक्षण साहित्य के जरिये कैसे हो सकता है। उसके लिए जीवन-चिन्ता ही साहित्य चिन्ता का केन्द्र बिन्दु है।

किन्तु लेखक यह भी स्वीकार करता है कि साहित्य के भी अपने कुछ मूल्य होते हैं और इन मूल्यों का संरक्षण करते हुए ही साहित्य जीवन-चिन्ता कर सकता है। यह ठीक है कि जीवन से ज्यादा महत्वपूर्ण कोई चीज नहीं है किन्तु किसी भी साहित्यिक कृति का पहले रचना होना जरूरी है और रचना अपने सभी कलात्मक मूल्यों के साथ जीवन-चिन्ता की अभिव्यक्ति और भी प्रभावशाली ढंग से कर सकती है। वस्तुतः किसी रचना की श्रेष्ठता के लिए उसमें साहित्यिक और मानवीय मूल्यों का संतुलन आवश्यक है। इसी संतुलन की ओर सकेत करने का प्रमाण लेखक ने इन निबंधों मे किया है।

इनमें से कई निबंधों को लिखते समय कई बार अग्रज डॉ० जयसिंह नीरज से विचार-विमर्श हुआ है, उनके सुझावों से लेखक लाभान्वित हुआ है। डॉ० नीरज के प्रति लेखक कृतज्ञता अनुभव करता है। कई निबंधों को प्रिय रमेश रावत ने धैर्यपूर्वक सुना है, तथा उन्होंने अपने महत्वपूर्ण सुझाव दिए हैं। लेखक उनका हृदय से आभारी है।

इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर ने आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, लेखक अकादमी को हृदय से साधुवाद देता है।

पंचशील प्रकाशन के स्वत्वाधिकारी श्री मूलचन्द गुप्ता को, जो मेरी कृतियों को प्रकाशित करने में पूर्ण उत्साह दिखाते हैं, शाब्दिक धन्यवाद देकर उनके महत्व को कम नहीं करना चाहता।

डॉ. हेतु भारद्वाज

26 जनवरी, 1984.
छावनी
नीम का थाना (राजस्थान)

भाई रघुवर दयाल को
जिनकी प्रखर तर्क बुद्धि का
मैं कायल हूं ।

अनुक्रम

आज के परिवेश की चुनौतियां और साहित्य

मेरे लिए परिवेश ऐसा अमूर्त प्रत्यय नही है जिसका साहित्य से कोई रिश्ता न हो और साहित्य कोई ऐसी चीज नही है जिसकी व्याख्या मानव जीवन तथा परिवेश से अलग रखकर की जा सके। साहित्य रचनाकार के मन का ऐसा लड्डू भी नहीं है जिसे रचनाकार जब चाहे बना ले और जब चाहे खा ले एवं जिसका रचनाकार की परिस्थितियों से कोई लेना-देना न हो, प्रत्युत साहित्य 'एक निश्चित परिस्थिति में और एक निश्चित परिस्थिति में पैदा होता है वह और परिस्थिति उसकी स्वेच्छा को मर्यादित करती है—यहां तक कि उसके विद्रोह को भी।' (इतिहास और आलोचना—डॉ. नामवरसिंह, पृ. 36) भाववादी सोच वाले लोगों को यह बात अटपटी लगेगी क्योंकि उनके लिए तो साहित्य रचना एक अचेतन प्रयास है। उनके लिए साहित्य रचनाकार की आत्मगत अभिव्यक्ति है, अतः उसका बाह्य परिवेश और समाज से क्या लेना-देना ? वे अपने पक्ष मे तर्क देते हैं कि महाकवि तुलसी जैसे संत ने 'रामचरित मानस' की रचना 'स्वांतः सुखाय' की थी। वह बहुजन-हिताय कैसे हो गया ? क्या यह एक संयोग मात्र था ? वस्तुतः यह न संयोग था न देवयोग वलिक तुलसी की रचना शक्ति को 'स्वांतः सुखाय' और 'सुरसरिसम सब कहं हित होई' उक्तियो के अभेद के बीच खोजा जा सकता है। 'रामचरित मानस' की लोकप्रियता का कारण उसका तुलसी के लिए स्वांतः सुखाय होना न होकर उसमें उन जीवन मूल्यों की कलात्मक अभिव्यक्ति है जो मनुष्य की स्वतन्त्रता तथा उच्चतर मानव विकास में सक्रिय रूप से सहयोग देते हैं। यह तो सही है कि सृजन के क्षणों मे रचनाकार केवल यही सोच रहा होता है कि जो कुछ उसके भीतर पक रहा है उसे किसी प्रकार अभिव्यक्त कर दे। उस वक्त वह केवल रचना को देखता है तथा उसकी समस्त इन्द्रियां सिमट कर उसी रचना के विन्दु पर केन्द्रित हो जाती है। यहां तक तो उसका रचना कर्म स्वांतः सुखाय कहा जा सकता है, किन्तु 'इस स्वांतः

मुहाय में उसकी सारी साधना और सारा व्यक्तित्व अन्तर्निहित है—दृष्टिकोण, उद्देश्य, अनुभव, अनुभूति, विचार, विश्वास वगैरह सब कुछ इसी के अन्तर्गत आ जाता है। इन तमाम बातों को वह स्वयं कहे या नहीं, लेकिन साहित्यिक कृति के रूप में इन सबका फल हमारे सामने आता है।' (इतिहास और आलोचना—डॉ. नामवरसिंह, पृ. 43)

यह तो ठीक है कि रचना का सृजन अकेले में होता है किन्तु रचनाकार के इन एकान्तिक क्षणों में भी उसका परिवेश उसके साथ होता है। समाज तथा परिवेश के सहचरत्व के बिना किसी भी प्रकार का सृजन सम्भव नहीं है। प्रेमचन्द ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया था, "साहित्यकार अपने देशकाल से प्रभावित होता है, जब कोई लहर देश में उठती है तो साहित्यकार के लिए अविचलित रहना सम्भव नहीं होता है।" (हंस, अप्रेल, 1932, पृ. 40) वह परिवेश से रचना का प्रतिपाद्य ग्रहण करता है तथा रचना में उसकी पुनर्रचना कर पुनः उसे परिवेश को दे देता है। इस सारी प्रक्रिया में रचना और परिवेश का रिश्ता इस प्रकार तय होता है—परिवेश से रचनाकार, रचनाकार से रचना और रचना से पुनः परिवेश। जो लोग साहित्य के साथ परिवेश के रिश्तों का निषेध करते हैं। इनका साहित्य इलिया एहरेनबुर्ग के शब्दों में 'स्वप्नों की फैक्ट्री में उपजा साहित्य' होता है।

निश्चय ही रचना के मूल में रचनाकार की अनुभूति रहती है किन्तु परिवेश के साथ गहरी एवं आत्मीय सम्बद्धता उसकी रचना को ईमानदार और प्रामाणिक बनाती है। परिवेश की जानकारी रचना को ठोस आधार देती है। प्रेमचन्द का कथा-साहित्य सहज तथा प्रभावशाली इसलिए है कि वे अपने पात्रों और पात्रों के परिवेश को अच्छी तरह जानते हैं। रेणु का 'मैला आंचल' उपन्यास आंचलिक उपन्यासों में सर्वाधिक प्रभावशाली रचना है क्योंकि रेणु मैथिल अंचल की परिस्थितियों तथा वहां के किसानों के जीवन को गहराई से समझते हैं। नई कहानी के प्रारम्भिक दौर में लेखकों ने बहुत प्रामाणिक ,तथा प्रभावशाली कहानियां दीं क्योंकि उन्होंने परिवेश को अनुभूति के स्तर पर ग्रहण किया था। उदाहरण के लिए पीढ़ियों के संघर्ष को रूपायित करने वाली 'आर्द्रा' (मोहन राकेश), 'बिरादरी बाहर' (राजेन्द्र यादव), 'वापसी' (उषा प्रियम्वदा) तथा 'पिता' (ज्ञान रंजन) कहानियां आज भी ताजा लगती हैं क्योंकि ये रचनाएं लेखकों द्वारा अनुभूत परिवेश की देन हैं जबकि फैशन के तौर पर लिखी गयी 'मुक्ति' (विजय चौहान), 'प्रश्न चिन्ह' (गंगाप्रसाद विमल), 'पिता-दर-पिता' (रमेश बक्षी) आदि कहानियां पाठक के मर्म को नहीं छू पाती क्योंकि इनके लेखकों ने पीढ़ियों के संघर्ष वाली थीम को परिवेश से नहीं उठाया। ये कहानियां लेखकों द्वारा सोची हुई स्थितियों को उभारने वाली कहानियां

हैं। प्रामाणिक तथा ईमानदार रचना के मूल में रचनाकार का उसके परिवेश के साथ गहरे तथा ग्रात्मीय सम्बन्धो की सघनता होती है।

सृजन के क्षणों में लेखक नितान्त काल्पनिक चित्रो की सृष्टि कर साहित्य की रचना करता है किन्तु इन क्षणों में भी उसका परिवेश उसके काल्पनिक चित्रो में विद्यमान रहता है। यदि ग्रौर गहरे जाकर देखें तो पाएँगे कि परिवेश ही लेखक को रचना के लिए प्रेरित करता है। सामाजिक तथा सास्कृतिक ह्रास के युग में कबीर तथा तुलसी ने तत्कालीन स्थितियों के विरुद्ध ग्रावाज उठायी थी। जर्मनी में गेटे ग्रौर शिलर ने भी यही कार्य किया। परिवेश तथा लेखक का सम्बन्ध ग्रत्यन्त जटिल होता है। वह रचना मे परिवेश की प्रतिकृति प्रस्तुत नही करता बल्कि उसकी पुनर्रचना करता है। रचना परिवेश की नकल मात्र नहीं होती है। लेखक परिवेश में कुछ घटा बढाकर परिवर्तन करता है। यह परिवर्तन रचना को परिवेश के ग्रौर ग्रधिक निकट लाता है। रचना को प्रामाणिक बनाता है। लेखक का रचना संसार परिवेश से तो प्रभावित होता ही है, वह परिवेश को भी प्रमाणित करता है। किन्तु यह तभी सम्भव होगा जब लेखक के पास व्यापक मानवीय दृष्टि हो तभी उसकी रचना सामाजिक परिवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका ग्रदा कर सकती है। कॉडवेल ने कहा है कि कला व्यक्ति की भावनाग्रो को इस तरह बतलाती है कि वह इस संसार के प्रति ग्रधिक सूक्ष्मता ग्रौर गहराई के साथ प्रतिक्रिया कर सके। इस मुद्दे को लेकर बहस हो सकती है कि साहित्य परिवेश के संदर्भ में क्राति करने की सामर्थ्य रखता है या नही ? किन्तु यह तय है कि साहित्य का चरित्र परिवेशगत विसगतियों तथा ह्रासशील शक्तियों के प्रति विरोधमूलक होता है। वह बराबर उन शक्तियो के खिलाफ ग्रावाज उठाता है जो ग्रादमी की ग्राजादी को कुचलती है ग्रौर महत्तर मानव मूल्यों को प्रतिष्ठित होने से रोकती हैं। इस प्रकार ग्रसामाजिक तथा ग्रमानवीय तत्वों के खिलाफ विद्रोह साहित्य का शाश्वत चरित्र है। साहित्यकार की हैसियत उसकी रचना के चरित्र के इसी स्वरूप के द्वारा तय होती है। इस संदर्भ मे मुक्तिबोध का कथन बहुत सार्थक है, "कलाकार होने मात्र से कोई व्यक्ति, बहैसियत कलाकार के, कोई देवता, सत या वाछनीय कलाकार नहीं हो जाता। ग्रगर ऐसा होता तो ग्रौरंगजेब की प्रशस्ति मे काव्य करने वाला कवि कालिदास त्रिवेदी (एक रीतिकालीन कवि), बहैसियत कलाकार के, ग्रौरंगजेब से सम्बन्धित कविताग्रों में भी जीवन सत्य की ग्रभिव्यक्ति कर रहा होता। उन कलाकृतियों में, ग्रर्थात् उन सवैयों कवित्तों मे, वह चाटुकार का कार्य कर रहा था। पद्माकर कवि ने ग्रपने संरक्षक हिम्मत बहादुर की बहादुरी के जो 'गीत गाये हैं' उनसे यही प्रमाणित होता है कि कलाकार, केवल रचना कर्म के कारण ही, ग्रपने ग्राप में कोई देवता, संत या वाछनीय कलाकार नहीं हो जाता। यह कहा तक, किस हद तक, किस सीमा तक वाछनीय कला-

कार है, यह उसकी कलाकृति के अपने रूप-स्वरूप पर, उस कलाकृति में प्रकट हुआ है तथा उस कलाकृति में जो जीवन मर्म प्रकट किए हैं (यदि वे प्रकट किये गये हैं तो)—इन सब बातों पर और उनके प्रभावों के स्वरूप पर, इन सब परस्पर सन्निविष्ट बातों पर, एक साथ निर्भर हो करेगा।" (मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड–5, पृ. 359)

साहित्य में रचनाकार की विद्रोहमुद्रा या विरोधमुद्रा भी परिवेश पर निर्भर करती है। समाज में और जनमानस में परिवेशगत विषमताओं के प्रति जितना तीव्र असंतोष होता है, लेखक की रचना में उतना ही अधिक ओज उभरता है। लोक-जीवन में परिवेश की विद्रूपताओं के प्रति असंतोष का भाव जितना ही गहरा होता है उस काल के साहित्य का स्वर भी उतना ही तुर्श होता जाता है। भक्तिकाल तथा स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान लिखा गया हिन्दी साहित्य इस तथ्य का साक्षी है। लोक जीवन के असंतोष को अनदेखा करके साहित्य रचना करने वाले लेखक इतिहास से बाहर रह जाते हैं। इस प्रकार परिवेश में व्याप्त असंतोष लेखक को न केवल नैतिक प्रेरणा देता है बल्कि उसे दिशा निर्देश भी करता है। प्रेमचन्द का समस्त लेखन उनके काल की परिस्थितियों पर कारगर टिप्पणियां हैं। प्रेमचन्द को यह शक्ति उन्हें उनके परिवेश से मिली थी। इसी शक्ति के बल पर लेखक अपनी रचनाओं में देश तथा काल का अतिक्रमण करता है।

परिवेश कोई अमूर्त प्रत्यय नहीं है प्रत्युत उत्पादन के साधनों तथा उत्पादन के सम्बन्धों से बने सामाजिक ढांचे का नाम ही परिवेश है। इसके अन्तर्गत किसी देश और काल की आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियां आ जाती हैं। व्यक्ति और समाज के विभिन्न सम्बन्ध, संघर्ष, संकट तथा समस्याएं लेखक का परिवेश अंग बनते हैं और लेखक इस परिवेश को अपनी रचना में अधिकाधिक व्यापकता प्रदान करता है। लेखक का परिवेश जितना व्यापक होगा उसकी संवेदनाएं भी उतनी ही गहरी और व्यापक होंगी तथा उसका संप्रेषण भी उतना ही गम्भीर और विराट होगा। परिवेश की प्रकृति परिवर्तनशील होती है तथा लेखक निरन्तर परिवेश के बदलते संदर्भों में व्यापक जीवन मूल्यों के अन्वेषण में प्रवृत्त रहता है। वह अपनी रचना में परिवेश की पुनर्रचना करता है। यह तभी सम्भव है जब लेखक अपने परिवेश के साथ आत्मीय और गहरी संलग्नता रखे तथा अनुभूति के स्तर पर परिवेश से जुड़े। परिवेश के साथ रचनाकार का संवेदनात्मक जुड़ाव प्रामाणिक और ईमानदार रचनाओं का आधार बनता है 'कफन', 'गदल', 'परदा', 'डिप्टी कलक्टरी', 'मलबे का मालिक', 'बीच के लोग', 'बहिर्गमन' जैसी कहानियां उस परिवेश की उपज है जिसे इन कहानियों के लेखकों ने अपने चारों ओर ही नहीं अपने भीतर भी अनुभव किया था।

अब आज के परिवेश की चर्चा करें—स्वातंत्र्योत्तर भारत में राष्ट्रीय आदर्श का दर्पण ऐसा दरका है कि वह लगातार टुकड़े-टुकड़े होता जा रहा है। स्वाधीनता के पश्चात् सत्ता जिस वर्ग के हाथ में आई वह पूंजीवादी तथा साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करता था, परिणामस्वरूप सदियों से चले आ रहे शोषण चक्र की गति न तो धीमी हुई और कागजों पर बनी आर्थिक और न सामाजिक समता, समानता और स्वतन्त्रता की योजनाओं का कोई सकारात्मक हल निकला। धीरे धीरे सभी आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्रोत एक विशेष वर्ग के हाथ में आते गये। भ्रष्टाचार, स्वार्थपरता, प्रान्तवाद, जातिवाद, भाई-भतीजावाद, आपाधापी-संकीर्णता, साम्प्रदायिकता, चरित्रहीनता, बेईमानी आदि राष्ट्रीय जीवन के स्थायी अंग बनते गये। राष्ट्रीय स्तर पर विघटनवादी आन्दोलन सक्रिय रहे हैं—असम आन्दोलन, मिजोरम आन्दोलन, खालिस्तान की मांग, साम्प्रदायिक दंगे आज भी देश के वातावरण को विषाक्त बनाए हुए हैं। इस प्रकार के विघटनकारी आन्दोलनों ने मानव जनजीवन को निर्मम रूप से ध्वस्त किया है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारत के प्रति [illegible] भिन्नता रखने वाले देशों की संख्या बहुत कम रही है। देश में जो राजनीतिक पतन हुआ है उसने नैतिकता के सभी मानक ध्वस्त कर दिये हैं। अब जनता के सभी मसले—चाहे वे रोटी के हों चाहे धर्म के—वोट नीति से तय होने लगे हैं। सत्ता द्वारा भ्रष्टाचार और दुश्चरित्रता के संरक्षण एवं [illegible] राजनीति के गठजोड़ ने जनजीवन में असहायता और असुरक्षा की भावना भर दी है। वोट की राजनीति ने संकीर्ण जातिवाद और गुटबंदी को भरपूर प्रश्रय दिया है। परिणामस्वरूप जनता का विश्वास सभी प्रकार की संवैधानिक [illegible] से उठ गया है। जनता को राजनीतिक कुचक्रों ने इतनी बार छला है कि अब वह [illegible] राजनीतिक दल या राजनेता पर विश्वास करने को तैयार नहीं है। [illegible] पद के लिए [illegible] कांक्षा और मानव जीवन के वृहद संदर्भों को [illegible] है। समाजवादी शक्तियां बराबर टूटती और बिखरती [illegible] रही हैं। [illegible] मूल्यहीन राजनीति के इस दौर में [illegible] नहीं रह गये हैं, जिन्हें जनता पहचान [illegible] सके। आर्थिक दृष्टि से राष्ट्रीय [illegible] आर्थिक स्थिति आशातीत [illegible] जा रही है। प्रशासनिक और राजनीतिक [illegible] व्यापारिक स्तर पर कालाबाजारियों के [illegible] के बीच फासला निरन्तर बढ़ता जा रहा है। [illegible] समानान्तर झोंपड़-पट्टियों की [illegible] की प्रतीक बन गयी है। [illegible] मर रहे हैं? [illegible]

नौकरशाह, व्यापारी तथा राजनेता बराबर धनवान क्यों और कैसे होते जा रहे हैं ?

हमारे देश में आर्थिक संकट से भी ज्यादा भीषण संकट संस्कृति का संकट है। स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् हम लोग लगातार संस्कृतिहीनता की ओर दौड़ते जा रहे हैं। धर्म तथा सम्प्रदायों का राजनीतिकीकरण होता जा रहा है जिससे सामान्य जन की समस्याओं से इनका सम्पर्क टूटता जा रहा है। अन्धविश्वासों, चमत्कारी बाबाओं तथा जंत्र-तंत्र के प्रति सम्मोहन सभी वर्ग के लोगों में बढ़ रहा है। हमारे पास न कोई संस्कृति रह गयी है न कोई मूल्य। जो लोग सारी समस्याओं का हल भारत की प्राचीन संस्कृति में खोजते हैं वे जड़ता की सीमा तक परम्परावादी है और समय की गति को पीछे की ओर मोड़ देने की मूढ़ आशा लगाए बैठे हैं। समाधान के लिए जिन लोगों के मानस की खिड़कियां पश्चिम की तरफ खुलती हैं उनका वास्ता इस देश की जमीन से नहीं रह गया है। सांस्कृतिक रिक्तता ने भारतीय समाज को बिल्कुल खोखला कर डाला है। आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से टूटे समाज को फिर भी सरलता से उबारा जा सकता है किन्तु जो समाज सांस्कृतिक दृष्टि से मूल्यहीन हो जाता है उसका उपचार बहुत सरलता से नहीं होता क्योंकि मूल्यों के अभाव में समाज सहज रूप से ही अमानवीय लक्ष्यों की ओर गतिवान होने लगता है। मुझे लगता है हमारे देश में यही खतरा सबसे भयावह होता जा रहा है।

आज के परिवेश के संकट की इस भयावहता को आदमी के अस्तित्व के प्रति जरा सा भी सरोकार रखने वाला हर व्यक्ति बड़ी शिद्दत से महसूस कर रहा है और हर व्यक्ति के भीतर असंतोष का लावा धधक रहा है। लेखक क्योंकि संवेदनशील प्राणी है अतः वह समाज के इस असंतोष को न केवल महसूस करता है बल्कि उन कारणों की खोज करता हुआ जो इन हालात के लिए जिम्मेदार हैं अपने मन के असंतोष को जो पूरे समाज का ही असंतोष है—अभिव्यक्ति देता है। इस अभिव्यक्ति मे वह उन साधनों को भी तलाशता है जो इन हालात को मानवीय और बेहतर बना सकते हैं। सड़क पर सरे आम किसी व्यक्ति की हत्या कर दी जाती है—मृत व्यक्ति के प्रति सहानुभूति तो सबकी है पर हत्यारे का विरोध करने का साहस किसी में नहीं है। लेखक की चिन्ता केवल इतनी भर नहीं है कि किसी की हत्या हो गयी बल्कि उसकी असली चिन्ता तो इस बात को लेकर है कि वे कौन से कारण है जिन्होंने आदमी को इतना निर्मम बना दिया है कि किसी हत्या भी उसे विचलित नहीं कर पाती ? हत्यारे का मुकाबला कैसे किया जा सकता है ? लेखक का असली सरोकार है उन कारणों की खोज जो आदमी को निर्मम और हृदयहीन बनाता है एवं इन कारणों को खत्म करने के मार्ग की खोज।

हम देख रहे है कि सत्य के मार्ग पर चलने वाला और श्रम तथा ईमानदारी से जीने वाला हर आदमी अपने को अकेला महसूस कर रहा है क्योंकि उसको बहि·

प्कृत करने के कसदन प्रयास चल रहे है। लेखक का काम इसी ग्रादमी की पक्षधरता करना है ग्रौर ग्रपनी रचना के माध्यम से इस व्यक्ति की प्रतिमा को टूटने से बचाना है। ग्राज के लेखक के समक्ष यह सबसे बड़ी चुनौती है।

ग्राज के लेखक की चिन्ता ग्रादर्शहीन ग्रौर मूल्यहीन जिन्दगी को बिखरने से बचाने की है तथा उन मूल्यों के प्रतिष्ठापन की है जो ग्रादमी को स्वतन्त्रता एवं समानता के साथ जीने का साहस देते हैं ग्रौर उसे शेष सृष्टि के साथ ग्रात्मीयता के साथ जोड़ते हैं। यह नहीं कि यह संकट ग्राज के लेखक के समक्ष ही पहली बार ग्राया है। कबीर तथा तुलसी के सामने भी यही चुनौतिया थीं किन्तु फिर भी इनका काम ग्रपेक्षाकृत कुछ सरल था क्योंकि उनके पास परम्परागत मूल्यों के कुछ सांचे थे जिनको ग्राधार बना कर वे ग्रपनी बात कह सके थे, किन्तु ग्राज के लेखक के सामने सारे परम्परागत ग्रादर्श तथा मूल्य झूठे साबित हो चुके हैं इसलिए उसकी यात्रा तो नये मूल्यों के खोज की यात्रा है। निश्चय ग्राज का ईमानदार लेखक इसी यात्रा का पथिक है।

ग्राज के रचनाकार के समक्ष चुनौती है—ग्रनुभूति के स्तर पर ग्राज के परिवेश से ग्रात्मीय सम्बद्धता तथा परिवेश मे व्याप्त मानव विरोधी शक्तियो की मुखालिफत ग्रौर उन नये मूल्यों की खोज जो इन्सानी जिन्दगी को बेहतर बनाते हैं ग्रौर उसे महत्तर मानव सम्बन्धो से जोड़ते है। इस प्रकार परिवेश के संदर्भ मे साहित्य का प्रमुख कार्य मनुष्य के संघर्ष में शामिल होता है।

पर यहीं से साहित्य के समक्ष दूसरी चुनौती ग्राती है—सम्प्रेषण की। सम्प्रेषण की समस्या मात्र भाषा की समस्या नही है तथा सम्प्रेषण का ग्रर्थ ग्रपनी बात पाठकों तक पहुंचा देना भी नही है। यदि ऐसा होता तो ग्रखबार मे छपने वाली हर खबर साहित्यिक रचना होती। विज्ञापन, खबर ग्रादि में सम्प्रेषणीयता का ग्रभाव नही होता किन्तु ये साहित्य नही हैं। निश्चय ही सौन्दर्य वह तत्व है जो किसी रचना को सम्प्रेषणीयता से ग्रागे ले जाकर साहित्यिक पद की गरिमा प्रदान करता है। साहित्यिक रचना मे लेखक का काम किसी वस्तु को पाठको तक पहुचाना भर नहीं है बल्कि उसे एक कृति का रूप प्रदान करते हुए सुन्दर बनकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करना है। इसलिए साहित्यरचना का पुनः सृजन होता है। रचनाकार परिवेश को समझने के साथ-साथ ग्रभिव्यक्ति के नये तथा सार्थक ग्रध्यायों की तलाश में भी संक्रिय रहता है। शायद गालिब ने यही बात इस शेर मे कही है :

न बुझे तश्नगीए शौक के मजमूं गालिब
गरचे दिल खोल के दरिया को साहिल बांधा।

गोस्वामी तुलसीदास ने 'गिरा ग्ररथ जल बीचिसम, कहिग्रत भिन्न न भिन्न' कहकर काव्य मे वस्तु ग्रौर रूप के तादात्मय ग्रौर उनकी ग्रभेदता पर बल दिया था। मुक्तिबोध ने रचनाकार के संघर्ष का त्रिविध स्वरूप माना है—'1 तत्व के

लिए संघर्ष, 2. ग्रभिव्यक्ति के सक्षम बनाने का संघर्ष, 3. दृष्टि विकास का संघर्ष। प्रथम का सम्बन्ध मानव वास्तविकता के ग्रधिकाधिक सक्षम उद्‌घाटन ग्रवलोकन से है, दूसरे का सम्बन्ध चित्रण सामर्थ्य से है, ग्रौर तीसरे का सम्बन्ध थियरी से है, विश्व दृष्टि के विकास से है, वास्तविकताग्रों की व्याख्या से है।' (मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड–5, पृ. 92) यह त्रिविध संघर्ष रचनाकार को एक साथ ही झेलना पड़ता है। उसे ग्रभिव्यक्ति के ग्रौजार भी ग्रपने परिवेश से ही ग्रहण करने पड़ते हैं तभी सम्प्रेषण प्रभावशाली बन पड़ता है। प्रेमचन्द की कहानियों का शिल्प ग्रत्यन्त सरल ग्रौर सहज है, उनकी भाषा ग्राम बोलचाल की है तथा उनके कहने का लहजा बिल्कुल लोककथाग्रों का सा है। यह सब इसलिए सम्भव हो सका कि प्रेमचन्द जिस समाज मे रह रहे थे उसकी जीवन पद्धति को उन्होने बिल्कुल निकट से देखा था इसलिए उनकी कहानियां पाठक के ग्रपने ज्यादा निकट लगती हैं। रेणु के पास मानवीय दृष्टि जरूर है पर वे ग्रामीण जीवन को एक भावुक दृष्टि से देखते है पर रेणु की कहानियो की भाषा इतनी सामर्थ्यवान है कि उनकी कहानियां बिल्कुल ताजा लगती है। इसका कारण यह है कि उन्होंने जिन पात्रो तथा उनकी समस्याग्रों को ग्रपनी कहानियो मे उठाया है उनकी जीवन पद्धति को बारीकी से समझा है तथा ग्रभिव्यक्ति के उपकरण उन्हें उसी जीवन पद्धति मे मिले हैं। नई कहानी ग्रान्दोलन की उपलब्धियों को लेकर विवाद हो सकता है किन्तु यह तय है कि उसने हिन्दी कहानी को ग्रभिव्यक्ति के वे माध्यम दिये जो उसने परिवेश से लिये थे। प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कहानी मे जो भाषागत जड़ता ग्रा गयी थी उसे नयी कहानी ने तोड़ा ग्रौर कहानी की भाषा को जीवन की भाषा से जोड़ा। ग्रमरकान्त, मार्कण्डेय, भीष्म साहनी की कहानियों में भाषा ग्रौर शिल्प की जो ग्रनायासता है वह इन लोगों की परिवेश की गहरी समझ के कारण है। कहने का ग्रर्थ यह है कि सक्षम ग्रभिव्यक्ति के लिए लेखक को ग्रभिव्यक्ति के उपकरण भी उसी परिवेश से चुनने होते हैं जिसको वह ग्रपनी कहानियों मे उभार रहा है। साठोत्तरकाल में स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को रूपायित करने वाली ऐसी कहानियों का दौर ग्राया जिनमे सोची हुई स्थितियां थीं। उनकी भाषा भी उसी प्रकार कृत्रिम ग्रौर बोझिल बनती गयी परिणामस्वरूप ये कहानियां हिन्दी कहानी के विकास की मुख्य धारा का ग्रंग नही बन सकीं।

'साहित्य विवेक मूलतः जीवन विवेक है'(मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड 5, पृ. 52) मुक्तिबोध का यह कथन इस तथ्य की ग्रोर संकेत करता है कि हम यदि साहित्य के माध्यम से समाज तक पहुंचना चाहते हैं, यदि रचना ग्रौर पाठक के बीच नजदीकी लाना चाहते हैं तो रचनाकार के महत्तर जीवन मूल्यों की खोज के साथ-साथ ग्रभिव्यक्ति के उपकरण भी समाज ग्रौर परिवेश से ही लेने होंगे तभी कोई रचना जनता को ग्रपनी ग्रोर ग्राकृष्ट कर सकेगी। यह ग्राज के साहित्यकार के समक्ष बड़ी चुनौती है कि वह रचनाग्रों में जनता के दृष्टिकोण को समझे। वही साहित्य जनता

का साहित्य हो सकता है जो जनता के जीवनादर्शों को स्थापित करके जनता को मुक्ति पथ पर ग्रग्रसर करता है। इसी मुक्ति पथ का ग्रर्थ राजनैतिक मुक्ति से लगा कर ग्रज्ञान से मुक्ति तक है।

'जनता के परिष्कार, उसके ग्रादर्श मनोरंजन से लगाकर तो क्रान्ति पथ पर मोड़ने वाला साहित्य, मानवीय भावनाग्रों का उदात्त वातावरण उपस्थित करने वाला साहित्य, जनता का जीवन चित्रण करने वाला साहित्य, मन को मानवीय ग्रौर जन को जन-जन करने वाला साहित्य, शोषण ग्रौर सत्ता के घमण्ड को चूर-चूर करने वाले स्वातन्त्र्य ग्रौर मुक्ति के गीतों वाला साहित्य, प्राकृतिक शोभा ग्रौर स्नेह के सुकुमार दृश्यों वाला साहित्य सभी प्रकार का साहित्य सम्मिलित है, बशर्ते कि वह मन को मानवीय, जन को जन-जन बना सके ग्रौर जनता को मुक्तिपथ पर ग्रग्रसर कर सके। साहित्य के सम्बन्ध में यही दृष्टिकोण जनता का दृष्टिकोण है।' (मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड 5, पृ. 60–61)

सृजन-प्रक्रिया में विचारधारा की भूमिका

मेरे लिए संवेदना रचना का मूल और जीवन मूल्य उसका परिणाम होना चाहिये। संवेदना से जीवन मूल्यों में बदलने तक की रचनात्मक यात्रा रचनाकार के आंतरिक जगत में चलने वाली यात्रा होती है। सृजन के इन क्षणों में रचनाकार नितांत अकेला होता है और वह यही सोच रहा होता है कि जो कुछ उसके भीतर पक रहा है उसे किसी प्रकार अभिव्यक्त कर दे। इन क्षणों के इस आवेश में वह केवल रचना को देखता है। किन्तु रचनात्मक क्षणों के इस आवेश में रचनाकार का सम्पूर्ण व्यक्तित्व अन्तर्निहित होता है—रचनाकार का सम्पूर्ण व्यक्तित्व अर्थात रचनाकार का दृष्टिकोण, उसका जीवन अनुभव, उसके विश्वास, उसकी आस्थाएं वगैरह वगैरह। रचना में संवेदना से जीवन मूल्य तक पहुंचने का कार्य जीवन की स्थितियों के प्रति रचनाकार की क्षणिक या सतही प्रतिक्रिया न होकर उसकी परिपक्व अनुभूति की कलात्मक अभिव्यक्ति होती है। सृजन प्रक्रिया का तथ्यपरक विश्लेषण करना शायद सम्भव नहीं है क्योंकि इसका सम्बन्ध रचनाकार के अन्तस में होने वाले चेतन-कार्य व्यापार से है जो अपने आप में बहुत सूक्ष्म होता है। अलेक्से ई तालस्ताय ने लिखा है कि 'सृजन क्रिया के रहस्यों को उसी सृजन क्रिया के साधनों—शब्दों—का प्रयोग करके उद्घाटित करने का प्रयास करना वैसा ही है जैसे मक्खन के चाकू से मक्खन को काटना।' (लेखन कला और रचना कौशल, पृ. 211)

जब मैं कहता हूं कि जीवन मूल्य रचना का परिणाम होना चाहिये तो यह स्वीकार करता हूं कि रचना कर्म मेरे लिए प्रयोजनशील कर्म है तथा रचनाकार की हैसियत से मैं कुछ प्रयोजन भी तय कर लेता हूं। इन प्रयोजनों को संक्षेप में इस प्रकार रख सकता हूं—हर स्तर पर मनुष्य को मानवोचित जीवन-प्राप्त हो अर्थात मनुष्य उन सभी दुश्चक्रों से मुक्त हो जो उसकी स्वतन्त्रता तथा सत्ता का अपहरण करते हैं, मनुष्य उस पूंजीवादी व्यवस्था के जाल से मुक्त हो जिसके मूल में ही आर्थिक उत्पीड़न और शोषण विद्यमान है, समाज से सामाजिक और आर्थिक गैर बराबरी मिटे, आदमी खुद इतना सामर्थ्यवान बने कि वह अपने संगठित प्रयासों के

द्वारा सभी प्रकार के शोषण और उत्पीड़न को समाप्त कर सके और अपने सांस्कृतिक पिछड़ेपन को दूर कर नये समाज की रचना कर सके। इन प्रयोजनों को तय करने में निश्चय ही जनवादी विचारधारा मेरी सहायता करती है और इस विचारधारा को मैं स्वीकार करता हूं।

रचनाकार के रूप में मुझे तीन स्तरों पर संघर्ष करना पड़ता है—रचना के प्रतिपाद्य के लिए संघर्ष, प्रतिपाद्य को प्रभावी ढंग से व्यक्त करने सम्बन्धी संघर्ष तथा एक ऐसी जीवन-दृष्टि विकसित करने का संघर्ष जो मेरे रचनाकार को जीवन की वास्तविकताओं की व्याख्या, आदमी को केन्द्र मे रखकर, करने की सामर्थ्य दे सके। निश्चित ही तीसरे स्तर का संघर्ष दृष्टि विकास के लिए जनवादी विचारधारा का वरण करने से सम्बन्ध रखता है।

किन्तु विचारधारा एक बाहरी प्रत्यय है जिसे कोई व्यक्ति या रचनाकार अपने अध्ययन, अनुभव तथा जगत के प्रभावों से ग्रहण करता है। जनवादी विचारधारा रचनाकार को एक ऐसी जीवनदृष्टि प्रदान करती है जिसके माध्यम से वह जीवन जगत के सम्बन्धों को समझता है तथा इन सम्बन्धों के बीच पनपते रहे गलत-सही के बीच भेद करता है। यही विचारधारा उसे स्पष्ट करती है कि वे कौनसी शक्तियां हैं जो अनन्तकाल से आदमी के अधिकारों का शोषण करती आ रही हैं तथा इन शक्तियों से उसे किस प्रकार निजात दिलायी जाती है या दिलायी जा सकती है। यहा एक प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि यह कार्य तो मानवतावादी विचारधारा भी करती है। निश्चय ही करती है किन्तु उसका खतरा यह है कि वह शोषक-शोषित दोनों को के मानव खाने मे रखकर दोनों के प्रति अपनी समान सहानुभूति देकर यथास्थिति का पोषण कर जाती है। किन्तु जनवादी विचारधारा रचनाकार को शोषक-शोषित के बीच भेद करना बताती है और उसे शोषित की रचनात्मक पक्षधरता करने की प्रेरणा देती है।

लेकिन रचनाकार के रूप में मेरा पहला संघर्ष रचना के प्रतिपाद्य और उसकी सक्षम अभिव्यक्ति के साधनों के लिए है क्योंकि कोई रचना पाठक को तभी प्रभावित कर सकती है जब वर्ण्य विषय के प्रति रचनाकार का रागात्मक सम्बन्ध हो। जब यह रागात्मक सम्बन्ध अभिव्यक्ति के स्तर पर रचना बनता है तो उसी प्रक्रिया में कही विचारधारा भी आ जाती है। किन्तु कुछ लोग हैं जो निरी विचारधारात्मक अभिव्यक्ति को ही रचनात्मक कर्म मानते हैं और यही मेरे समक्ष ये विकल्प उभरते हैं—(1) संवेदना विचारधारा (2) संवेदना रहित विचारधारा (3) विचारधारा रहित संवेदना। इनमें मुझे पहला विकल्प ही स्वीकार है क्योंकि बिना संवेदना के कोरी विचारधारा के बल पर किसी कलात्मक रचना की कल्पना करना ही बेमानी है। जो लोग विचारधारा की अभिव्यक्ति के लिए रचना के कलात्मक मूल्य बलिदान करने को तत्पर रहते हैं वे रचना के बुनियादी स्वरूप का ही विरोध

हैं क्योंकि रचनाकार जब तक अपनी विचारधारा को कलात्मक रूप प्रदान नहीं करता, तब तक अपनी रचना का अपेक्षित प्रभाव जनता पर डालने की आशा नहीं रख सकता।

सारा विवाद ही इसलिए है कि कुछ लेखक रचना के कलात्मक मूल्यों को ही कला का अन्तिम लक्ष्य मानते हैं तो कुछ लोग विचारधारात्मक अभिव्यक्ति को। किन्तु जीवन मूल्यों से रहित कोरी कलात्मकता भी कोई अर्थ नहीं रखती और न कलात्मकता के बिना कोरी विचारधारा ही। इसीलिए रचनाकार का प्रमुख कार्य रचना की कलात्मकता को गहराई से विचार के ठोस तथा ईमानदार धरातल पर लाना है। आरोपित कथ्य तथा आरोपित कलात्मकता दोनों ही रचना के लिए घातक हैं।

विचारधारा के प्रति अति आग्रह न कथ्य और कलात्मकता के सन्तुलन को बिगाड़ा है और यह असन्तुलन हिन्दी कविता में सर्वाधिक मात्रा में दिखाई देता है क्योंकि कविता को कसदन बयान बनाने की कोशिश की जा रही है। जब-जब कलात्मक मूल्यों को अलग कर कोरी विचारधारा को जबरदस्ती रचना बनाने की कोशिश की जाएगी, एक बनावटी रचना सामने आएगी क्योंकि विचारधारा का रचना बनने से पहले रचनाकार की संवेदना में बदलना जरूरी है, विचारधारा का अनुभूति का अंग बनना जरूरी है क्योंकि 'भावानुभूत ज्ञान ही कला का विषय है। परन्तु जब हम कला का सच्चा दृष्टिकोण छोड़कर किसी दूसरे क्षेत्र में चले जाते हैं तब हम धीरे-धीरे प्रतिक्रिया का आह्वान करते है।' (मुक्तिबोध रचनावली : खण्ड *5*, पृ. 23)।

इस भावानुभूत ज्ञान के लिए जरूरी है कि जनवादी विचारधारा की स्वीकृति के साथ-साथ रचनाकार वास्तविक जिन्दगी के सवालों से जुड़े क्योंकि सारे *विचारधारात्मक तथा कलात्मक उपक्रमों की सार्थकता जिन्दगी के सवालो के हल* खोजने में है। रचनाकार की हैसियत से मैं चाहता हूं कि मुझे मेरी सांस्कृतिक विरासत का गहरा ज्ञान हो, वास्तविक जिन्दगी में मेरी जड़ें गहरी हों। इनके अभाव *में कोई विचारधारा मेरी मदद नहीं कर सकती। स्वयं प्रकाश ने 'कहानी की शुरूआत'* शीर्षक अपनी कहानी में बड़ी महत्वपूर्ण बात कही है, 'तुम लोग अगर यही करते रहे कि पहले कोई सिद्धान्त चबाया, फिर सोचा, इस पर कहानी लिखूंगा, फिर कोई प्लाट ढूंढ़ा, फिर उसे सिद्धान्त में फिट करने लगे तो नास कर दोगे सारे साहित्य का ! सही प्रक्रिया इससे उलट है. इसीलिए कहा जाता है कि जिन्दगी से सीखो।' (आसमां कैसे कैसे, पृ. 82) जब स्वयं प्रकाश 'आसमां कैसे कैसे' कहानी लिखते हैं तो जिन्दगी के बिल्कुल करीब आ जाते हैं और विचारधारा उनकी अनुभूति का अंग बनकर एक विश्वसनीय कहानी को जन्म देती है। किन्तु जब वे 'संक्रमण' कहानी

लिखते हैं, पति-पत्नी के सम्बन्धों की प्रगतिवादी व्याख्या करने लगते हैं और सभी के लिए समान अधिकारों की हिमायत करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे कहानी को विचारधारा के बल पर खड़ा करने का प्रयास कर रहे हैं, परिणामस्वरूप वे एक बनावटी कहानी की रचना करते हैं।

इसलिए विचारधारा जब तक रचनाकार की अनुभूति का जरूरी अंग नहीं बनेगी तब तक प्रभावशाली और ईमानदार रचना का जन्म नहीं होगा।

विचारधारा स्वीकार के साथ-साथ एक और महत्वपूर्ण सवाल जुड़ा हुआ है राजनीतिक प्रतिबन्धन का। यदि जनवादी विचारधारा को स्वीकार करता हूं तो इस विचारधारा से सम्बद्ध दल मुझसे अपेक्षा करता है कि मैं उस दल से भी जुड़ूं और उसके कार्यक्रम का अनुमोदन कर उसे रचनात्मक सहयोग प्रदान करूं। किन्तु राजनीतिक दलों के अपने अन्तर्विरोध होते हैं। यदि ऐसा न होता इतने सारे वामपंथी दल भी न होते, फिर मैं अपने आपको कौनसे राजनीतिक दल से प्रतिबन्धित करूं? स्पष्ट उत्तर है कि रचनाकार की हैसियत से किसी भी दल से नहीं क्योंकि किसी भी दल के निर्देश पर रचनाकर्म सम्पन्न करना मेरे लिए सम्भव नहीं है, पिछले दौर में हम देख चुके हैं कि राजनीतिक दलों से जुड़े लेखकों को किस प्रकार गलत और मानव विरोधी निर्णयों का साझीदार बनना पड़ा है।

फिर भी यह विचारधारा मेरे लिये जरूरी है किन्तु तभी तक जब तक वह मेरी अनुभूति का अंग बनकर मेरी रचनात्मक ऊर्जा को उद्दीप्त करती हुई मेरी रचनाओं को व्यापक जीवन सन्दर्भों से जोड़ती है और जीवन जगत की स्थितियों तथा अपनी सांस्कृतिक विरासत को समझने में मेरी सहायता करती है।

समकालीन लेखन : लेखक और पाठक के बीच सम्वादहीनता की स्थिति

समकालीन कहानी पर चर्चा करते हुए एक बार डॉ. देवीशंकर अवस्थी ने दो प्रकार के पाठकों का जिक्र किया था—अभ्यस्त पाठक तथा विवेकी पाठक। अभ्यस्त पाठक समय काटने अथवा मनोरंजन करने की गरज से किसी कृति को बांचता है और पढ़कर उसे एक ओर रख देता है जबकि विवेकी पाठक किसी कृति को पढ़ने के बाद तत्कालीन समय के सन्दर्भ मे उस रचना की प्रासंगिकता देखने का प्रयास करता है। जाहिर है कि संख्या की दृष्टि से अभ्यस्त पाठक का दायरा बहुत बड़ा है फिर भी समकालीन लेखन के साथ उसकी संवाद स्थिति कतई नहीं है। विवेकी पाठको मे भी एक बहुत बड़ा तबका उन लोगो का है जो समकालीन लेखन के प्रति एक दुराग्रहपूर्ण दृष्टिकोण लेकर चलते हैं और हर नयी रचना पर नाक भौं सिकोड़ते हैं। उसे समझने की कोशिश किये बिना उसे समाज विरोधी होने तक की घोषणा कर देते हैं। यदि इस तबके का बस चले तो समकालीन लेखन पर पाबन्दी लगादे। इन लोगों के लिए तो प्रसाद के बाद हिन्दी मे कोई कवि नही हुआ तो प्रेमचन्द के पश्चात् कहानीकार तथा उपन्यासकार। अब बहुत थोड़े से लोग बचते हैं जो समकालीन लेखन को सही सन्दर्भ मे रखकर देखते हैं और उस पर बहस करते हैं। स्थिति तो इतनी दर्दनाक है कि हम लेखक लोग भी अन्य लेख की रचनाओं को पढने की तकलीफ कम ही गवारा करते हैं। समकालीन लेखन को जिन समस्याओं मे जूझना पड़ रहा है, उनमे रचनाकार और पाठक के बीच यह संवादहीनता की स्थिति भी एक विचारणीय मुद्दा है।

और बहस यही से शुरू होती है कि लेखक किसके लिये लिखता है? बिना किसी प्रकार की शास्त्रीय बहस में जाए मैं इस बात को स्वीकार करता हूं कि रचनाकार का अपने काल और समाज के प्रति कुछ दायित्व होता है और एक ईमानदार रचना

अपने परिवेश की समस्याओं के प्रति उदासीनता का रवैया अपनाकर स्थापित नहीं हो सकती। दरअसल हमारी बहस में वे ही रचनाएं आती हैं जो कालसाक्षात से आंख मिलाने की सामर्थ्य रखती हैं और मानवीय संवेदनाओं से संवेदित होती हैं। अतः रचना की सामाजिक प्रेषणीयता को किसी भी हालत में नजरअन्दाज नहीं किया जा सकता।

अधिकाधिक पाठकों द्वारा समकालीन लेखन की स्वीकृति का सम्बन्ध देशवासियों के सांस्कृतिक और मानसिक धरातल से भी जुड़ा हुआ है। जिस देश का सांस्कृतिक तथा मानसिक धरातल जितना विकसित होगा, समकालीन लेखन के प्रति पाठकों की प्रतिक्रिया उतनी ही तीव्र होगी। प्रायः कहा जाता है कि कोई भी जीवन्त रचनाकार अपने जीवनकाल में स्थापित नहीं होता, मगर इतिहास गवाह है कि सोफोक्लीज, शेक्सपीयर, कालिदास, तुलसी और निराला जैसे रचनाकारों को तत्कालीन समय ने स्वीकार कर लिया था। आज के सन्दर्भ में विचार करें तो यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि भारत का सांस्कृतिक और मानसिक धरातल अनेक रूढ़िबद्ध मान्यताओं से जकड़ा है और किसी भी नये विचार से लोगों को अजीबसी घबराहट होने लगती है। समकालीन लेखन इस वातावरण को रास नहीं आता क्योंकि रूढ़िबद्ध मानसिकता के खिलाफ आवाज उठाना उसके लिए बुनियादी शर्त है। इस कारण भी पाठक आजकल लेखक से दूरी महसूस करता है। वैसे भी साहित्य के प्रति आम और प्रचलित राय उसके मनोरंजन मूल्य को लेकर प्रधानता रहती है। नगरों-गांवों में कवि सम्मेलन होते हैं मगर वहां मैदान गवैयों तथा चुटकुलेबाजों के हाथ रहता है। और तो और हिन्दी विश्व सम्मेलन में आयोजित कवि सम्मेलन में हिन्दी का प्रतिनिधित्व सुमन, वैरागी और काका ने किया। यह दयनीय स्थिति हमारी मानसिक फूहड़पनता का परिचायक है। क्या वहां समकालीन कवियों को प्रतिनिधित्व नहीं दिया जा सकता था ताकि हिन्दी कविता की सही स्थिति का जायजा बाहर के लोगों को मिलता। मगर यदि इस प्रकार के आयोजनों में समकालीन कविता को प्रस्तुत किया जाए और एक वातावरण तैयार किया जाए तो कोई वजह नहीं कि श्रोता समकालीन कविता के प्रति जागरूक न हों।

संवादहीनता की इस स्थिति में कलम के सहारे जीने वाले लेखकों का रुख बहुत स्पष्ट होता है क्योंकि उन्हें बाजार में खड़े होना है और ऐसा माल देना है जो बुक-स्टालों पर हिट हो सके। जाहिर कि कलमजीवी लेखक के समक्ष सदा पाठक रहेगा और वह आम पाठक को आकृष्ट कर सकने वाली रचनाएं देगा। मगर जो रचनाकार अपने परिवेश के प्रति ईमानदार है, जो हर कीमत पर जीवन की विषमताओं, जटिलताओं, विसंगतियों, विद्रूपताओं, मानवीय संघर्ष आदि को प्रस्तुत

रचना के माध्यम से अभिव्यक्ति देना चाहता है, उसे अभ्यस्त पाठक सरलता से ग्रहण नहीं कर पाता। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में किए गये सर्वेक्षण पर 'दिनमान' में प्रकाशित एक टिप्पणी से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यदि कविता पाठ्यक्रम में निर्धारित न होती तो कोई भी छात्र कविता न पढ़ता। समकालीन कविता को कितने लोग पढ़ते हैं? क्या यह दुखद स्थिति नहीं है कि धूमिल का 'संसद से सड़क तक' काव्य संकलन बमुश्किल डॉ. नामवरसिंह की सहायता से छप सका। मुक्तिबोध को भी प्रकाशक कहां मिले? फिर धूमिल और मुक्तिबोध के पाठक भी कितने से हैं? जबकि ये दोनों ही अपने समय के प्रतिनिधि कवि हैं। आम पाठक की मानसिकता में जमीन आसमान का अन्तर होता है। और यह अन्तर भी दोनों के बीच संवादहीनता की स्थिति के लिए जिम्मेदार है। मगर आम पाठक और रचनाकार दोनों एक ही दुनिया के बाशिन्दे हैं और उनके बीच संवाद के इमकान सदैव खुले हैं।

कुछ अन्य स्थितियां भी विचारणीय हैं जिनके कारण लेखक-पाठक के बीच यह अन्तराल है। हमारे देश का प्रबुद्ध वर्ग समकालीन रचनाकार के प्रति दुराग्रहपूर्ण दृष्टिकोण रखता है, इसलिए समकालीन लेखन विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम से बाहर रहता है। विश्वविद्यालयों के आचार्य कक्षाओं में सूर, तुलसी की कविताओं को भाव विभोर होकर पढ़ाते हैं, रीतिकालीन कवियों की शृंगारिकता को चटखारे लेकर सराहते हैं, और बहुत हुआ तो गुप्त और दिनकर की राष्ट्रीयता पर मर मिटते हैं। यहीं आकर हिन्दी साहित्य समाप्त हो जाता है। इसी दृष्टि का परिणाम है कि विश्वविद्यालयों में उच्च श्रेणी याफ्ता हिन्दी के एम. ए. अकविता और अकहानी जैसे नाम एम. ए. करने के बाद सुनते हैं। मुझे एक आचार्य का स्मरण है जो भरी कक्षा में नये लेखकों के उपन्यास और कहानियां पढ़ने को मना करते हैं। यदि समकालीन लेखन को पाठ्यक्रम में स्थान मिलता है तो श्लील-अश्लील की बहस में घसीट कर उसे बाहर कर दिया जाता है। 'आधा गांव' का जो हश्र हुआ, वह सभी को मालूम है। जबकि, समकालीन लेखन भाषा और संवेदना दोनों ही दृष्टियों से युवा छात्रों के मानस के अधिक निकट होता है। यदि समकालीन लेखन युवा छात्रों के समक्ष प्रस्तुत किया जाये तो युवा पीढ़ी सरलता से उससे जुड़ती है। राजस्थान में हायर सेकण्ड्री स्तर के विद्यार्थी जिस सहजता से सूर-तुलसी की कविता को समझते हैं उसी सहजता से नन्द चतुर्वेदी और जयसिंह नीरज की कविताओं को ग्रहण कर रहे हैं।

जिन प्रतिष्ठानों से साहित्य कृतियों को पुरस्कृत किया जाता है, समकालीन लेखन के प्रति उनका रुख भी विशेष उत्साहजनक नहीं होता। प्रायः व्यतीत रचनाएं ही पुरस्कृत होती हैं। मैं यह नहीं कहता कि किसी कृति की स्थापना के लिए पुरस्कार

मिलना आवश्यक है, मगर यह सही है कि जब जब किसी कृति को पुरस्कार मिलता है, उसका पाठक समुदाय बढ़ता है और कुछ समय के लिए उस कृति पर बहस खुलती है।

देश की प्रकाशन व्यवस्था के कारण समकालीन लेखन आम पाठक तक नही पहुंच पाता। गुलशन नन्दा के उपन्यास की पाच लाख प्रतियां छप सकती है क्योंकि वह बिकता है। कर्नल रंजीत, ओमप्रकाश, वेदप्रकाश, समीर, रानू के नाम पाठकों को आकृष्ट करते है क्योकि इनकी पुस्तकें सस्ते मूल्य पर आसानी से मिल जाती हैं। गुलशन नन्दा का पाठक बहुत अच्छी तरह जानता है कि उसके उपन्यास जिन्दगी की बनावटी भावुक तस्वीर पेश करते हैं, उसके उपन्यासो की दुनिया यथार्थ से बहुत दूर है। मगर उसकी लोकप्रियता का एक प्रमुख कारण उसके उपन्यासों की सस्ते मूल्यों पर प्राप्ति है। इस रूप में कोई भी समकालीन लेखक गुलशन नन्दा का मुकाबला नहीं कर सकता, वह शिवानी या भगवतीचरण वर्मा का भी मुकाबला नही कर सकता। मुकाबले का सवाल भी नही है। मगर यदि प्रकाशक समकालीन लेखन को भी व्यापक पैमाने पर पाठकों तक पहुंचाने की चेष्टा करें तो वह भी उनके लिए घाटे का सौदा नहीं रहेगा। 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' मे आयोजित परिचर्चा मे देश के पेपर बैक छापने वाले सभी प्रकाशकों ने यह स्वीकार किया था कि पाठको ने साहित्यिक कृतियों का भी उमी प्रकार स्वागत किया जिस प्रकार जासूसी और सस्ते सामाजिक उपन्यासो का। कहते हैं कि राजकमल की 'आलोचना पुस्तक परिवार योजना' अपने सस्तेपन के कारण पाठकों को आकृष्ट करने मे सफल रही है। समकालीन लेखन को आम पाठक स्वीकार नही करता अथवा उसे समझता नहीं, यह मानना भी भ्रामक होगा। कम से कम उपन्यास, कहानी, नाटक के विषय मे तो यह बात बिलकुल ही गलत है। मैं 6 वर्ष एक कस्बे में रहा। मेरे इर्द-गिर्द के लोग गुलशन नन्दा और ओमप्रकाश के पाठक थे। कभी-कभी ये लोग मुझ से पुस्तकें मागकर पढ़ते और साहित्य कृतियों को भी सराहते। पेशे से व्यापारी तथा मैट्रिक से कम शिक्षा प्राप्त एक व्यक्ति ने मन्नू भण्डारी का 'आपका बंटी' उपन्यास आठ बार पढ़ा, उसे मोहन राकेश का 'अन्तराल' उपन्यास बहुत पसन्द आया। इन लोगों को 'अलग-अलग, वैतरणी', 'राग दरबारी', 'मुर्दाघर', 'बेघर' जैसी कृतियां खूब पसन्द आयी। मगर सवाल यह है कि इन लोगों को साहित्यिक कृतियां मिलें कैसे? 'आपका बंटी' उपन्यास की कीमत 15 रुपये थी (अब तो और बढ़ गयी होगी) जबकि उपन्यास 200 पृष्ठ का भी नहीं है। यह उपन्यास आम पाठक तक कैसे पहुंचेगा? आम पाठक या तो दो-तीन रुपये का उपन्यास खरीदता है या बास पैसे प्रति चौबीस घटे के हिसाब से किराये पर लेकर उपन्यास पढ़ता है। अभी हमारा शिक्षित समाज इतना सुसंस्कृत भी नही है कि अपना निजी पुस्तकालय विकसित करने में गर्व अनुभव करें। समकालीन लेखकों को तो अक्सर अपनी किताबें खुद ही छापनी पड़ती हैं, उनके

पास प्रचार-प्रसार की न तो सुविधायें हैं न समय ही। इसलिए समकालीन रचनाएं एक बहुत सीमित पाठक वर्ग तक ही पहुंच पाती हैं।

लाखों की सख्या में छपने वाली सेठाश्रित पत्रिकाएं भावुकतापूर्ण रचनाएं छापती हैं। इनमें छपने वाली कविताएं एक ठण्डी मिठास लिये होती है। अधिकांश कहानियां प्रेम या स्त्री-पुरुष सम्बन्धो पर आधारित पारिवारिक कहानियां हैं। नये तेवर वाली तेज रचनाएं छापने से ये पत्रिकाएं कतराती हैं। 'धर्मयुग' ने डॉ. शिवप्रसाद सिंह का 'गली आगे मुड़ती है' उपन्यास इसलिए छापा कि उसमे सिनेमाई का माद्दा खूब है। गोविन्द मिश्र की 'अन्तःपुर' कहानी उसमें इसलिए छपी की वह नववामपंथ के खिलाफ बोलती है। सेठाश्रित पत्रिका के सम्पादकीय विभाग मे काम करने वाले मेरे मित्र ने एक बार मुझे बताया था कि सरकार के खिलाफ तो फिर भी कुछ छाप सकते हैं, मगर पूंजीपतियों के खिलाफ तो कुछ भी नहीं छाप सकते। इसका सीधा-सा अर्थ यही है कि व्यापक रूप से पढी जाने वाली पत्रिकाएँ एक खास ढर्रे की रचनाएं ही पाठको तक पहुंचाती है जिनसे उन्हें आर्थिक लाभ होता है। स्वयं धर्मवीर भारती ने अपनी 'मुनादी' कविता को 'धर्मयुग' में नही छपाया, 'कल्पना' मे छपाया। क्यों ? 'धर्मयुग' में कविता छपती तो ज्यादा पाठकों द्वारा पढ़ी जाती। मगर यही तो इन सेठाश्रित पत्रिकाओ का छल है। साहित्यिक और श्रमजीवी पत्रिकाएं तो वैसे ही साधनहीन होती है और उनका प्रसार आम पाठक तक नहीं हो पाता।

इधर सेठाश्रित पत्रकारिता ने आम आदमी के दर्द को उभारने वाली कहानियो को प्रश्रय देने का शोर भी मचाया है मगर वहा भी एक गहरा छल है, जब इस बैनर के नीचे छपने वाली अथवा उसका उपहास करने वाली कहानिया पाठको के समक्ष आ रही है। वह कौनसी नयी मानसिकता है जो ऐसे नायक की प्रतिष्ठा करती है जो अकारण ही घर से भाग जाता है और जब उसका ताऊ उसकी सगी बहन का रिश्ता तय कराने के लिए नायक के पास जाता है तो नायक बजाय अपनी बहन और ताऊ की मदद करने के उन्हें रिक्शे में बिठाकर लडके वाले के घर भेज देता है और स्वयं जल्दी ही पहुंचने की कहकर पलायन कर जाता है, अथवा ऐसे अफसर नायक की मूर्ति पेश करता है जो रेल मे दूसरी सवारियों के हाथों अपने पिता को अपमानित होते देखती है और अन्तत: काशीघाट पर वृद्ध और असहाय पिता को छोड़कर राहत की सास लेती है, अथवा उस गैर जिम्मेदार पात्र को सामने लाती है जो जीवन संघर्षो से जूझती अपनी बहन के शरीर से आय करने के विचार से प्रसन्न होता है। यदि ये पात्र जीवन की जटिल संघर्षमय स्थितियों से जूझते हुए अमानवीय स्थितियों को प्राप्त करते तो बात फिर भी समझ में आ सकती थी, मगर यहां तो नायक जीवन की जटिलताओं से पलायन करने की तरकीबें सोच रहे है। इस मानव विरोधी मूर्तियों से समकालीन लेखन के प्रति संदेह होना गलत तो नही है, मगर इसके कहानीकार सचित्र छप रहे हैं, एक छल का अग बन रहे हैं।

डॉ. राममनोहर लोहिया ने एक बार कहा था कि हिन्दी को देश के कोने-कोने तक पहुंचाने का श्रेय हिन्दी फिल्मों और गांधीजी को है। निश्चय ही फिल्म आज का सबसे प्रभावशाली जन-माध्यम है। इधर हिन्दी की साहित्यिक कृतियों को फिलमाने की लहर आयी है। मगर वहां भी जीवन के प्रति सच्ची और ईमानदार रचनाओं को स्थान नहीं मिलता। वहां हल्के प्रभाव वाले पारिवारिक उपन्यासों को ही चुना जाता है या फिर जो लोग तिकड़म-भिड़ाकर वहां पहुंच जाते हैं। ताज्जुब तो तब होता है जब हम पाते हैं कि '27 डाऊन' जैसी मानव प्रतिभा को कलंकित करने वाली फिल्म को राष्ट्रीय पुरस्कार मिल जाता है। यह प्रवृति और देखी जा रही है कि हिन्दी के कथाकार फिल्मों को दृष्टिगत रखते हुए कथाओं की रचना करने में लगे है। आकाशवाणी की स्थिति भी दयनीय है, क्योंकि आकाशवाणी के साहित्यिक प्रसारण निहायत बोदे है और उनमें समकालीन लेखन को स्थान मिल ही नहीं पाता अत. फिल्म और आकाशवाणी दोनों ही माध्यम समकालीन लेखन से दूर जाते है।

यह नहीं कि पाठक से दूरी बढ़ाने के लिए समकालीन लेखन जिम्मेदार ही नहीं है। कई बार तो समकालीन और आधुनिकता की होस मे लेखक प्रयोग के नाम पर चौंकाने वाली रचनाएं देते है अथवा गैर-सामाजिक चेतना वाली रचनाएं। समकालीन रचनाओं की अर्त्तमूता और अस्पष्टता पाठक को उससे दूर रखने मे सहायक होती है। समकालीन लेखन अक्सर साहित्यिक गुटबन्दी की बैसाखियो पर चलकर स्थापित होने की चेष्टा करता है। पत्रिकाओ में साहित्यिक किलेबन्दी का शोर रहता है जिससे आम पाठक का कोई लेना देना नहीं। आम पाठक तो केवल रचनाए पढ़ना चाहता है, उसे इस लफ्फाज-रणनीति से क्या लेना देना। क्रांति और विद्रोह के नाम पर समकालीन लेखन ने कई बार प्रतिपक्ष के नारो और गालियों को रचना के रूप में पेश करने की चेष्टा की है। कविता मे अमूर्त्तता को बेहद प्रश्रय मिला है तथा दुरुह, अस्पष्ट तथा विचित्र बिम्बों ने कविता को या जटिल बनाया है अथवा विरोध स्वर के नाम पर बयानबाजी ने उसे भाषण के निकट पहुंचाया है। कभी-कभी तो कविताएं नेताओं के भाषण लगने लगती हैं। इन सारे प्रयत्नों ने पाठक के मन मे समकालीन लेखन के प्रति अरुचि का भाव पैदा किया है। ऐसी भी स्थिति आयी है कि समकालीन लेखन ने रचना की बुनियादी शर्तों को ही झुठलाने की चेष्टा की है, जैसे पिछले दशक में लेखन मे 'कण्टेण्ट' को लेखकों-समीक्षकों ने जरूरत से ज्यादा अहमियत दी है, परिणामस्वरूप भाषा और शिल्प की दृष्टि से लेखन अपेक्षित ऊंचाइयों को प्राप्त नहीं कर सका है।

एक बात और कहना चाहूंगा कि आम पाठक को समकालीन लेखन तभी आकृष्ट कर सकता है जबकि वह आम आदमी की भाषा को पकड़ने की चेष्टा करे और आम जीवन के मुहावरे को ग्रहण करे। इसलिए आज के लेखन की सबसे प्रमुख

जरूरत उस भाषा की तलाश है जो उसे ग्राम आदमी से सीधे जोड़ सके। संक्रान्तिकाल में लेखक के लिए ग्राम आदमी की भाषा का स्वीकार और भी जरूरी हो जाता है।

ग्राम पाठक और समकालीन लेखन के बीच संवादहीनता की कुछ स्थितियों का मैंने जिक्र किया। आवश्यकता ऐसे मंच की है जो इस फासले को पाटे और समकालीन लेखन के प्रति ग्राम पाठक की उदासीनता टूटे। यह जरूरी हो गया है कि लेखन ड्राइंगरूम तथा गोष्ठियों का विषय ही न होकर चौराहे की चर्चा का विषय बने।

सैक्स, सैक्स-एक्ट तथा साहित्य

कला का संदर्भ में श्लीलता-अश्लीलता का विवाद अत्यन्त प्राचीन है। सामाजिक मर्यादाओं मे विश्वास रखने वाले चिन्तकों ने सदैव कला में अश्लील चित्रणों का विरोध किया है तथा काव्य में 'यौन-चित्रण' को सामाजिक-सीमाओं में रखने का पक्ष लिया है। किन्तु अब श्लीलता-अश्लीलता के विवाद को ही बेकार माना जाने लगा है तथा कलाकार के लिये किसी प्रकार की सीमाओं की स्वीकृति बेमानी हो गई है। यौन-चित्रण के पक्षधरों का कहना है "सैक्स अब कोई समस्या नहीं रही। ""सबके लिये चाय एक सहज धर्म है जिस पर न विचार करना जरूरी न सोचना। यह समाज के दैनिक जीवन का एक अंग है। 'औरत की देह' भी इतनी ही सहज सुलभ कमोडिटी होनी चाहिए।""" 'सम्भोग' नामक चीज चाय की तरह ही सहज सुलभ हो जाएगी और साहित्य मे उसका जिक्र फिर एय्याशी के रूप मे नही होगा।" बात बिलकुल ठीक लगती है। रचनाकार अपने लिये सामाजिक मर्यादाओं के बन्धन स्वीकार कर साहित्य सर्जन की स्वाभाविक एवं अबाध प्रक्रिया में अवरोध क्यों पैदा करे ? वैसे भी रचना-प्रक्रिया के दौरान रचनाकार का मानस पूर्ण मुक्त होता है— श्लीलता-अश्लीलता, नैतिकता-अनैतिकता जैसे दायरे उसके समक्ष नहीं होते। जब मानव की अन्य सभी प्रवृत्तियां किसी भी सीमा तक साहित्य मे अभिव्यक्ति पा सकती हैं तो सैक्स की अभिव्यक्ति के लिये ही सीमा निर्धारण की बात क्यों उठे ? अन्य प्रवृत्तियो की तरह सैक्स की अभिव्यक्ति भी उस सीमा तक हो जहां वह चाय की तरह सहज सुलभ लगने लगे।

सैक्स के खुले चित्रण के कारण 'जिन कथाओं को अप्रामाणिकता का सर्टिफिकेट मिला है उसका कारण यही है कि 'सम्भोग' वहा चाय जितना ही सहज है।' देखने में यह कथन पूर्ण रूप से सही लगता है। कमलेश्वर के दुराग्रह-पूर्ण विरोध से भी मैं सहमत नहीं हूं। कोई दिक्कत नहीं यदि अन्य प्रवृत्तियो की तरह 'यौन' को भी कथाओं मे पूरी छूट के साथ अभिव्यक्ति मिले, किन्तु किसी भी भाव का

रचना में आकलित होने का अर्थ होता है उस भाव का विस्तार, पाठक के साथ तादात्म्य।

सैक्स मनुष्य की विचित्र एवं घोर वैयक्तिक क्रिया एवं प्रवृत्ति है। जब किसी कथा मे इसका खुला चित्रण होता है तो क्या उसका तादात्म्य समष्टि के साथ हो जाता है ? 'चाय' की तरह सहज मानकर चलने वाली कथाओं में अभिव्यक्ति सैक्स का पाठक के साथ किस स्तर पर साक्षात्कार होता है ? इन प्रश्नों का उत्तर खोजने पर यौन (Sexuality) तथा यौन-क्रिया (Sex-act) दो शब्द स्वतः ही अलग हो जाते हैं। यौन या काम मानव की मूल प्रवृत्ति है और इसके प्रयोग से किसी भी भाषा का साहित्य वंचित नहीं रहा है तथा इसके लिये सीमा-निर्धारण का प्रश्न भी नही उठा है। किन्तु विवाद तो 'यौन-क्रिया' या 'योनि' के चित्रणो को लेकर उठता है जहां यौन का प्रयोग मात्र योनि तक सीमित रह जाता है और इसको 'सम्भोग' तक ही देखा जाता है।

जब किसी कथा के पात्र जरा सी बातचीत के पश्चात् सम्भोग रत हो जाते हैं और लेखक उस क्रिया का विस्तारपूर्वक वर्णन करने मे रस (चटखारे) लेने लगता है, तो वहा यौन न होकर योनि ही चित्रण का लक्ष्य होती है। लेखक उन स्थितियों की तलाश में रहता है जिनमें वह अपने पात्रो को अधिक से अधिक सम्भोगरत रख सके। इन योनि-चित्रणो का पाठक के साथ किस रूप मे साक्षात्कार होगा ? पहले यह भी समझ लेना चाहिए कि इन कथाओ के लिए 'स्त्रीदेह' एक 'कमोडिटी' तो है, ही साथ मे साहित्य-सृजन का एक महत्वपूर्ण प्रेरक है। जब पाठक पर इन रति-प्रसगों की प्रतिक्रिया की बात सोचते है तो कह सकते है कि शारीरिक उत्तेजन कथाओ में चित्रित सैक्स का कार्य हो सकता है। किन्तु यह भ्रम है क्योंकि नारी देह की सारी सम्भावनाओं को मनुष्य ने जान लिया है, इसलिये चाहे नये से नये ढग से स्त्री-रति का चित्रण किया जाए पाठक के मन मे एक भी अतिरिक्त तरंग नही उठेगी। स्त्रीदेह को कमोडिटी मानकर सम्भोग का सहज चित्र मनुष्य के उस त्रास का बेहद गया गुजरा चित्रण है जिसे मनुष्य ने विलक्षणता से भोगा है। पाठक के लिये उसके चित्रण मे न कोई नवीनता होती है और न विलक्षणता ही, उलटे वह पाठक को उस प्रोटेस्ट से विमुख करता है जिसकी आज भारत में आवश्यकता है और बौद्धिक स्तर पर यह प्रोटेस्ट होनी चाहिए। सम्भोग हमारे लिये कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका समष्टिगत बोध सम्भोग-चित्रणों को पढकर हो सके। 'स्त्रीदेह' देह रूप में तो कमोडिटी ही रही है और वास्तविक जीवन में स्त्री-देह को मनुष्य ने मन चाहे ढंग से प्रयुक्त किया ही है। किन्तु स्त्रीदेह के दावतनामे में साहित्य का दावतनामा शामिल नही है, जीवन अपने आप में नैतिक-अनैतिक, नियमित-अनियमित घटनाओं का केन्द्र है किन्तु साहित्य उस सारे जीवन को ज्यो का त्यो ग्रहण नही

करता। साहित्य का कार्य जीवन के वास्तविक रूप को ज्यों का ज्यों ग्रहण करना नहीं है। इसके अतिरिक्त हमें यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि 'स्त्रीदेह' अकेली साहित्य की विलक्षण अग्नि को धारण करने में समर्थ नहीं हो सकती। हम केवल योनि तक साहित्य की धारा को सीमित नही रख सकते। योनि साहित्य का सर्वस्व नही हो सकती।

प्राय: पश्चिमी साहित्य में हुए योनि के प्रयोग के आधार पर हमारे लेखक सैक्स एक्ट के चित्रण को जस्टीफाई करने की कोशिश करते हैं। अंग्रेजी कथा-साहित्य मे भी सैक्स का चित्रण संघर्षों के दौरों से गुजर चुका है, प्रारम्भ में कथाकारों ने सैक्स का प्रयोग एक प्रवृति के रूप मे ही किया। विक्टोरियन कलाकारों के बारे में तो यह कहा जाता है कि वे 'प्रेम' की बातें तो बहुत करते रहे किन्तु 'सैक्स' को नही जान पाए। बाद मे ब्लेक ने सैक्सुअलिटी का प्रयोग मानव स्वच्छन्दता, शक्ति एव प्रसन्नता के लिये किया, गटे में यह प्रकृति की अंधेरी शक्तियो की ओर संकेत करती है, बालजाक ने इसे अहं, इच्छा शक्ति, महत्वाकाक्षा के रूप में अभिव्यक्ति दी; हार्डी के 'जूड' उपन्यास में तो एक काम-प्रमुक्त स्त्री खिड़की से कूद जाती है। यहा तक सैक्स को मानव की एक प्रवृति के रूप मे स्वीकार कर चित्रण किया गया किन्तु आगे चलकर जार्ज मूर के 'ईस्थर वाटर्स' ने तो हंगामा ही खड़ा कर दिया, ज़ोला के प्रकाशक को जेल हो गयी, फ्रांस तथा जर्मनी में ऐसी कथाओं को कानूनन दबाने का प्रयास किया, स्केण्डीनेविया मे इब्सन को भी संघर्ष करना पड़ा, 'लेडी चैटरलीज् लवर' को बड़े सघर्ष के बाद सार्वभौमिकता मिली। (जबकि यह उपन्यास पूंजीवाद पर एक गहरा व्यग्य है।) 'लोलिता' पर प्रतिबन्ध लगा। यह ठीक है कि विरोध आज भी उतना ही तीव्र है जितना पहले था।

इसके अतिरिक्त पश्चिम में नैतिकता सम्बन्धी मान्यताओं में परिवर्तन का सम्बन्ध राजनैतिक एव सामाजिक आन्दोलन से जुडा हुआ था। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् यह आन्दोलन आया जब नयी-पीढी ने विक्टोरियन विचारों को अस्वीकार कर दिया। पश्चिम में आए परिवर्तन का अन्तर काफी गहरा है। कभी तो एफ. स्काट. फिजरल्ड ने माताओ को सावधान किया कि उनकी पुत्रिया चुम्बन व्यापार में न पड़ें किन्तु अपनी पुत्रियों के चुम्बन-अभ्यस्त होने पर वही माताए आज [illegible] होती हैं। अमेरिका में तो यहा तक कहा जाने लगा कि अगला कदम [illegible] सम्भोग दिखाना ही होगा। डॉ. ग्राहम बी. ब्लेन ने तो यह भी अनुमान [illegible] गत 15 वर्षों मे ग्रेजुएशन से पूर्व ही सम्भोग का अनुभव कर लेने वाले [illegible] सख्या 50% से 60% तथा लडकियों की संख्या 25% से 40% [illegible] ब्लेन ने तो यह भी पाया है कि रैडक्लिफ की युवतिया यह अनुभव [illegible] पूर्व-सम्भोग-क्रिया-व्यापार कष्टदायक है जब करना ही है [illegible]

करें ? किन्जे रिपोर्ट तथा अन्य अध्ययनों ने यह पुष्ट कर दिया है कि अमेरिका के अधिकांश युवक तथा कम से कम आधी युवतियां शादी से पूर्व ही सम्भोग किए होती हैं।

किन्तु यह स्थिति भी साहित्य में सैक्स-एक्ट के चित्रण को जस्टिफाई नहीं करती तथा अमेरिका जैसे देश में भी ऐसे चित्रणों की भर्त्सना ही की जाती है। अमेरिका के समाजशास्त्री डेविड रीजमैन ने तो यह सिद्ध करने की कोशिश की है *बीस वर्ष के युवक अब भी युवतियों को वस्तु न मानकर 'मानव' ही मानते हैं।* बौद्धिक स्तर पर इन सब बातों का वहां प्रश्रय नहीं मिलता। हिन्दी कथाओं में सम्भोग के चित्रण खूब खुल कर आ रहे हैं। ये चित्रण लेखक के मस्तिष्क के गढ़े गढ़ाए है जो पश्चिमी अनुकरण में चित्रित किये जाते हैं। इसलिये ये अप्रामाणिक लगते हैं।

मैं इस बात को स्वीकार करता हूं कि कलाकार स्वतन्त्र होता है किन्तु उसकी स्वतन्त्रता का प्रयोग समाज से सड़े-गले को निकाल फेंकने के लिये होना चाहिए। पश्चिम में सैक्स चित्रण का विरोध इस बात को तो सिद्ध करता ही है कि साहित्य का सम्बन्ध कहीं न कहीं सामाजिक शालीनता से जुड़ा हुआ है। निश्चय ही काम-भावना तथा काम साहित्य के महत्वपूर्ण प्रेरक रहे है और रहेंगे किन्तु सम्भोग के उन्मुक्त चित्रण से समस्या पैदा होती है। सैक्स कोई अनैतिक या गैर कानूनी चीज नहीं है किन्तु कथाओं के लिये यह एक सस्ता कच्चा माल भी नहीं है। बर्नार्ड शा के शब्दों में "साहित्य वह छिद्र नहीं है जिसमें होकर अमुक्त लोग शरीर की दावतों पर झाक सकें।"

कविता का स्थापत्य : बहस के नये आयाम

कविता आदमी का आदिम राग है। मनुष्य के विकास के साथ-साथ जब हम भाषा के समानान्तर विकास को देखते हैं तो हमें कवि पहले और दार्शनिक बाद मे दिखायी देता है। कविता अभिव्यक्ति की सबसे महत्वपूर्ण, सूक्ष्म तथा केन्द्रीय विधा है। यदि ऐसा न होता तो विश्व की हर भाषा के साहित्य का इतिहास कविता से (वह भी लयात्मक कविता से) प्रारम्भ न होता। भाषा का पद्य से गद्य की ओर विकास-प्रवाह इस बात को प्रमाणित करता है कि आदमी के मन की बुनियादी बनावट लयात्मक है। साहित्य के जो रूप शब्द से सम्बद्ध है, उनमें कविता का अनुशासन सबसे गम्भीर, बारीक और श्रमसाध्य होता है। कविता ही वह विधा है जिसमें रचनाकार को न तो एक भी शब्द के अपव्यय की छूट है और न एक भी शब्द के गलत प्रयोग की। इसलिए कवि-कर्म बहुत सरल भी नही है। पर कविता बराबर लिखी जाती रही है और इधर तो खूब ही लिखी जा रही है। कहीं 'कविता की वापसी' ने कवियों के लिये प्रगति क्षितिज खोले है तो कही कविता की बिक्री ने प्रकाशकों को एक नयी प्रतियोगिता के मैदान में लाकर खड़ा कर दिया है। औद्योगीकरण के इस युग मे कविता का उत्पादन भी व्यापक पैमाने पर हो रहा है और इस उत्पादन को बिकाऊ बनाने के लिए चर्चाबाजी (विज्ञापनबाजी) भी खूब हो रही है। उत्पादन के क्षेत्र में एक बात यह देखने को मिलती है कि उत्पादित वस्तु तो कमोवेश वही रहती है, पर विज्ञापन के अन्दाज़ रोज बदल जाते हैं। किन्तु कविता-उत्पादन का दुर्भाग्य यह है कि हिन्दी मे लिखी जा रही 'एक ही कम्पोजिट कविता' तो है ही, उस पर होने वाली चर्चा भी घूम फिर कर एक तरह की समीक्षा ही होती है। पिछले दशक के चर्चित किसी भी काव्य संग्रह को उठा लीजिये और उस पर लिखी गयी समीक्षाओं को पढ़ जाइये—समीक्षा के दो तेवर स्पष्ट रूप से सामने आ जाएंगे—एक के अनुसार तो वह कविता ही नही होगी जबकि दूसरे के अनुसार वह 'समय की शिला पर खुद नंगा दस्तावेज' होगी। कविता-एजेन्सियों के

साय समीक्षा एजेन्सियां भी इस व्यापारिक दौड़ में अपनी भूमिका अदा कर रही हैं ।

यदि हम पिछले दौर के साहित्य-इतिहास पर दृष्टिपात करें तो यह तथ्य सामने आ जाएगा कि जितना घपला हिन्दी कविता में हुआ है उतना अन्य किसी विधा में नहीं हुआ । इसका कारण शायद कविता के रूप के प्रति कवियों की असावधानी में है । इस असावधानी की ओर काव्य-समीक्षा में तो कम से कम ध्यान दिया गया है । इसके प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है कि काव्य-संकलनों पर होने वाली चर्चाएं प्रायः व्यक्तिगत राग-द्वेष से प्रेरित होकर लिखी जाती हैं । यह बात भी तय है कि काव्य-समीक्षा का प्रमुख स्वर कथ्य से कथ्य तक की यात्रा रहा है । सारी चर्चा कविता के कथ्य को लेकर होती रही है । यह तर्क भी अपने आप में लुभावना लगता है कि शिल्प तो कथ्य में से ही निकलता है, इसलिये शिल्प की चर्चा को महत्व क्यों दिया जाए । जिन्होंने शिल्प की चर्चा गम्भीरता से की है उन्हें कलावाद के अपराध में रूपवादी घोषित कर दिया गया है । कविता में सब कुछ कथ्य ही है, इस तथ्य को अधिसंख्य कवियों ने अमिट रेखा मान लिया है और वे धड़ाधड़ कुछ न कुछ लिख रहे हैं जिस पर कविता का लेबिल लगाकर बाजार में फेंका जा रहा है ।

कविता के स्थापत्य को लेकर न कवियों को चिन्ता है न समीक्षकों को। माना, स्थापत्य कथ्य से अलग नहीं है पर, कथ्य के साथ तो होगा ही। बिना मुकम्मल स्थापत्य के कोई कथ्य रचना नहीं बन सकता । ताजमहल सफेद संगमरमर का बना है पर सफेद संगमरमर का हर ढेर ताजमहल नहीं हो सकता । ताजमहल इसलिए ही सुन्दर नहीं है वह संगमरमर से बना है और उसके साथ शाहजहां और मुमताज के प्यार की कहानी जुडी हुई है, बल्कि इसलिए भी सुन्दर है कि उसका स्थापत्य अद्भुत है ।

कविता सम्बन्धी चर्चा में समीक्षक कविता के स्थापत्य पर कम से कम बात करते हैं । मुझे तो यह भी लगता है कि इधर के चर्चित कवि कविता के स्थापत्य के बारे में न तो जागरूक हैं न स्पष्ट । इसलिए कविता में बराबर एक इकहरापन बना हुआ है । क्या कारण है कि समीक्षक मुक्तिबोध की कविताओं की भिन्न-भिन्न व्याख्याएं करने में सफल हो जाते हैं ? क्योंकि मुक्तिबोध कथ्य के साथ-साथ उसके स्थापत्य के बारे में पूरी तरह जागरूक हैं। इसीलिये वे 'वस्तु और रूप' को लेकर चार कोणों से कविता के स्थापत्य की गम्भीर चर्चा करते हैं ।

कविता के स्थापत्य पर बात करने से पहले हमें एक बात साफ तौर से समझ लेनी चाहिए कि कोई रचना कविता कब होती है ? और उसके स्थापत्य पर तभी

बात हो सकती है जब यह कविता हो। कविता की अन्तिम तथा मुकम्मल परिभाषा देना तो कठिन काम है किन्तु यह तय है कि कविता किसी जीवन-स्थिति मे पाठक को रागात्मक रूप से भागीदार बनाकर उसे किसी जीवन-मूल्य से जोड़ती है। कविता के लिये संवेदना उसका मूल तथा जीवन-मूल्य उसका नतीजा होना चाहिये। कविता के कतिपय उदाहरणों से हम इस बात को समझें : गत वर्षों के चर्चित कवि है—अरूण कमल। उनकी एक प्रसिद्ध (?) कविता है—'खबर', जो इस प्रकार है : अखबारों में खबर थी:/कैलीफोर्निया की एक कुतिया ने तेरह बच्चे एक साथ जने। अखबारो में खबर थी :/युवराज ने कगालो मे कम्बल बाटे/अखबारो मे खबर थी :/विश्व सुन्दरी का वजन 31 किलो है/अखबारों मे खबर थी :/व्याज बड़ा गुणकारी होता है। अखबारों में खबर थी :/राजनेता ने दाढ़ी मुंडायी/एक खबर जो कहीं नही थी/किश्ता गौड़ को फासी हो गयी। एक खबर जो कही नही थी/भूमैया को फांसी हो गयी। (अपनी केवल धार, पृ. 18) मगर यह रचना कविता नही है क्योंकि यह रचना किश्ता गौड़ और भूमैया की फांसी के दुष्कर्म के साथ पाठक को नही जोड पाती। यह संवेदना के स्तर पर किश्ता गौड़ और भूमैया की संघर्षशीलता से पाठक को नही जोड़ती। पाठक के मन में इन दोनो के प्रति कोई हलचल पैदा नही करती तथा इस घटना को वह किसी जीवन-मूल्य में नहीं बदल पाती। (यह रचना-सृजन प्रक्रिया से गुजर कर एक जीवन-मूल्य नही बनती।) इन पंक्तियों को पढ़ने के बाद किश्ता गौड़ और भूमैया की फांसी को लेकर पाठक के मन में व्यवस्था के प्रति आक्रोश जागना चाहिये वह नही जग पाता, अन्याय को मिटाने की जो ललक पैदा होनी चाहिए वह नही होती। यह एक खबर मात्र रह जाती है। 'न कोई चोरी का डर न कोई घोटाला। दरवाज़े पर लगा हो जब हैरिसन का ताला' विज्ञापन की इन पंक्तियों में तुक भी है, लय भी है किन्तु ये पंक्तियां भी कविता नहीं है क्योंकि पाठक के मन मे वे न तो कोई बेचैनी पैदा करती हैं न उसे किसी जीवन-मूल्य से जोड़ती है। यही हाल 'खबर' कविता का है जिसके बरअक्स में नागार्जुन की दो पंक्तियां रखना चाहूंगा :

बीत गयी सर्दी बीत गया माघ
रानी के खसम ने मारा है बाघ॥

ये पंक्तियां भी खबर ही देती है किन्तु ये पंक्तियां खबर से आगे जाकर कविता बनती हैं। यहां 'रानी के खसम' शब्दों के प्रयोग से एक नयी तथा उच्चकोटि की व्यंजकता आ गयी है। यह कविता पाठक को झकझोरती है और 'रानी के खसम' के प्रति घृणा भाव भी पैदा करती है। शोषक के प्रति पाठक के मन में घृणा पैदा होना उसका एक मूल्य से जुड़ना ही है। जिस समाज में सर्दी से मरने वाले लोगों को कोई नही पूछता वहा रानी के खसम का बाघ मारना एक महत्वपूर्ण समाचार

बन जाता है। इन पंक्तियों को पढ़ने के बाद पाठक के मन में समाज के वैषम्य के प्रति गहरा क्षोभ पैदा होता है। इसलिए ये दो पंक्तियां सहज ही कविता बन जाती है जबकि 'खबर' ऐसा काम नहीं कर पाती। हरियाणा के अनपढ़ गायक के मुख से मुझे ये पंक्तियां सुनने को मिली—

1. भजनलाल विश्नोई, तूने बिजली कठै लुकोई,

2. बंसीलाल तेरे राज में गधे चूरमा खां।

ये दोनों उदाहरण भी कविता की कोटि में आ जाते हैं, अपने सारे अनगढ़ स्थापत्य के बावजूद। उनमें सपाटबयानी भी है और व्यवस्थागत जड़ता पर सीधा और तीखा प्रहार भी। 'बिजली का लुकोना' और 'गधों का चूरमा खाना' पाठक को सहज ही व्यवस्था में व्याप्त भ्रष्टाचार का आभास करा देते हैं।

जब यह चर्चा होती है कि साहित्य के अपने भी मूल्य होते हैं तो कुछ विद्वान बिदक जाते हैं और कहते हैं कि जीवन और साहित्य के मूल्य तो एक ही होते हैं। किन्तु हमें यह समझ लेना चाहिए कि साहित्य जीवन को कथ्य के रूप में वहन करने वाला एक अलग अनुशासन है और उसके स्थापत्य सम्बन्धी अपने मूल्य होते हैं। किसी रचना की सर्जना मे जिन तत्वो की भूमिका होती है वे इस प्रकार हैं—1. रचनाकार की प्रतिभा, 2. रचनाकार की दृष्टि, 3 अभिव्यक्ति के औजार तथा उन्हे प्रयोग करने का रचनाकार का ज्ञान और औजारों पर उसका अधिकार, 4. कला-संस्कृति की विरासत का गहरा ज्ञान, 5. परिवेश के साथ रचनाकार का आत्मीय रिश्ता। सच्ची तथा ईमानदार रचना इन सभी तत्वो का समन्वित परिणाम होती है। कविता की रचना में इनमें से कौन से तत्व की भूमिका ज्यादा महत्वपूर्ण होती है, यह प्रश्न विशेष अर्थ नहीं रखता किन्तु यह तय है कि कवि का अभिव्यक्ति के औजारों पर पूर्ण अधिकार जरूरी है क्योंकि ये औजार ही कविता के स्थापत्य को तय करते हैं, 'जिस तरह से एक मजदूर जिसका अपने औजारो पर, अपने साधनों पर अधिकार नही है, या तो अपने को जख्मी कर लेगा या अपने कारोबार में कोई खराबी पैदा कर लेगा, वह मशीन ठीक से नहीं चलेगी। उसी तरह से एक लेखक भी, अगर अपने साधनों पर उसका अधिकार नहीं है तो उसी सीमा तक जिस सीमा तक उसका अधिकार नही है, खराबी पैदा करेगा।' (शमशेर बहादुरसिंह—प्रगतिशील कविता का फार्म, आलोचना 21, पृ 43) इसलिए एक सक्षम कवि के लिए आवश्यक है कि अभिव्यक्ति के साधनो पर उसका पूर्ण अधिकार हो और उसे उनकी गहरी जानकारी हो।

जीवन गतिशील है इसलिए कविता का कथ्य भी गतिशील होता है। कथ्य के परिवर्तन के साथ ही उसकी अभिव्यक्ति के उपादान भी बदल जाते हैं। अपनी

रचनाओं को ताजा और प्रभावशाली बनाने के लिए रचनाकार नये स्थापत्य माध्यमों की खोज करते रहते है। इसके लिए कभी वे शास्त्र की ओर जाते हैं तो कभी लोक-जीवन की ओर। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास मे इस तथ्य की ओर संकेत किया था, 'जब पंडितो की काव्य-भाषा स्थिर होकर उत्तरोत्तर आगे बढती हुई लोकभाषा से दूर पड़ जाती है और जनता पर प्रभाव डालने की उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है तब शिष्ट समुदाय लोक भाषा का सहारा लेकर अपनी काव्य परम्परा मे नया जीवन डालता है।' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 670) शुक्ल जी का यह कथन भाषा से इतर अभिव्यक्ति के अन्य औजारों के संदर्भ में भी सही है।

हिन्दी कविता की समूची विकास-यात्रा पर दृष्टिपात करें—हिन्दी कवियों को स्थापत्य के उपादान या तो संस्कृत काव्य-शास्त्र से मिले या लोकजीवन से। भक्तिकालीन कविता कथ्य तथा शिल्प दोनों दृष्टियों से अपनी ऊंचाई पर है। भक्त कवियो ने संस्कृत काव्य-शास्त्र परम्परा तथा लोकजीवन दोनों से स्थापत्य के उपादान चुने। तुलसी ने दोहा-चौपाई के भीतर रामकथा का प्रबन्ध खड़ा किया जबकि सूर ने पदो के स्थापत्य के माध्यम से कृष्ण लीला का गायन किया। इन दोनों ही कवियो ने परम्परा तथा लोकजीवन से काव्य-उपादान लेकर काव्य को पूर्णता प्रदान की। 'रामचरित मानस' की लोकप्रियता राम, भरत, लक्ष्मण जैसे उदात्त-जीवन मूल्यों से समन्वित चरित्रों में तो निहित है ही, शिल्प के स्तर पर सहज, सरल और लोकमानस के अनुरूप स्थापत्य व्यवस्था मे भी है। कबीर का काव्य स्थापत्य की दृष्टि से अनगढ़ जरूर है किन्तु लोक जीवन से ग्रहण किए साधारण उपादानो के सार्थक प्रयोग ने कबीर के काव्य को एक नयी ताजगी प्रदान की है। यही नही कबीर ने गम्भीर दार्शनिक विचार को सीधे-सादे उपादानों से व्यक्त कर दिया है। ये पंक्तिया इस तथ्य का उदाहरण है—

जल मे कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी
फूट कुंभ जल जलहि समाना यह तथ कहौ गियानी।

आत्मा परमात्मा के एकत्व की इससे सरल व्याख्या और क्या हो सकती है ? मीरा को अपनी करुणा और कुंठा को वाणी देने के लिए पदों से उत्तम माध्यम नहीं मिला। संस्कृत के काव्यशास्त्र में तो स्थापत्य पर इतना जोर दिया गया है कि आचार्यों ने भावो के अनुसार छंद-व्यवस्था कर दी। रीतिकालीन कवियों ने अपनी समग्र शक्ति कविता के स्थापत्य को संवारने में लगा दी। किन्तु हमे यह न भूलना चाहिए कि स्थापत्य अपने आप मे कुछ नही है। 'साहित्य की अभिव्यक्ति का माध्यम है भाषा। इसलिए साहित्य मे कलात्मक सौन्दर्य लाने के लिए उस माध्यम पर अधिकार प्राप्त करना आवश्यक है। लेकिन उस माध्यम को ही साध्य मानकर उसकी

कारीगरी में सिमट जाना कोरा रीतिवाद अथवा रूपवाद है।' (डॉ. नामवरसिंह इतिहास और आलोचना, पृ. 20) अतः कथ्य का महत्व तो निर्विवाद रूप से प्राथमिक है। रीतिकाल में बिहारी के दोहों में यत्र-तत्र कथ्य तथा स्थापत्य की बेजोड़ ऊंचाई मिलती है। घनानंद, देव, सेनापति, भूषण यहां तक कि केशव में भी कथ्य और शिल्प का ऐसा सुन्दर योग मिलता है कि उनका कृतित्व श्रेष्ठ काव्य की कोटि में आ जाता है।

आधुनिक काल तक आते-आते जीवन स्थितियां बदली। कविता कवियों के लिए स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लेने का माध्यम भी बनी। रीतिकालीन इतिवृत्तात्मकता से मुक्त होकर कविता ने नये स्थापत्य माध्यम ग्रहण करने शुरू किये। भारतेन्दु, श्रीधर पाठक आदि कवियों ने ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली को स्थापित करने का प्रयास किया। हरिऔध ने सायास प्रमाणित करने का प्रयास किया कि परम्परागत छंद विधान में उन्होंने तुक व्यवस्था को अवश्य बदला। आगे चलकर गुप्त, दिनकर जैसे कवियों ने उसकी सारी सहजता के साथ खड़ी बोली को काव्य-भाषा के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया।

किन्तु कविता के स्थापत्य को बदलने का सबसे प्रमुख कार्य छायावादी कवियों ने किया। हमें यहां यह भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि स्थापत्य भाव या विचार का होता है। भाषा और उसके समस्त उपकरण तो उस भाव या विचार के स्थापत्य को अधिक प्रखर तथा सुसंगत बनाने के लिए प्रयोग होते हैं। जो रचनाकार इनके प्रयोग में जितना दक्ष तथा सावधान होगा, उसकी प्रतिच्छाया उसकी रचना के सौन्दर्य पर अवश्य पड़ेगी। हर विधा का अपना अलग स्थापत्य होता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों का सुगुम्फित शिल्प केवल भाषायी खिलवाड़ नहीं है बल्कि उनके गम्भीर चिन्तन का व्यवस्थाबद्ध निबंधन है। उनके निबन्धों का स्थापत्य इतना सुगठित है कि यदि किसी वाक्य में से कोई भी शब्द हटा दिया जाए या उस शब्द का स्थानापन्न कोई भी शब्द रख दिया जाए तो पूरे प्रवाह को झटका सा लगता है। छायावाद युग से पहले तक छंदबद्धता हिन्दी कविता के स्थापत्य की प्रमुख विशेषता रही। किन्तु छायावाद तक आते-आते कवियों को लगने लगा कि परम्परागत छन्द विधान अब उनकी संवेदना को व्यक्त करने में असमर्थ है। परिणामस्वरूप छायावादी कवियों ने कविता को छंद के बंधनों से मुक्त कर दिया। किन्तु कवि के लिए स्थापत्य के एक अनुशासन को तोड़ना भर काफी नहीं होता, उसे दूसरे नया ज्यादा प्रभावशाली अनुशासन की व्यवस्था करनी पड़ती है। छायावादी कवियों ने अगर 'रजत के प्रास' तोड़े तो एक नये स्थापत्य को जन्म दिया। छायावादी कविता का स्थापत्य गीतात्मक है। किन्तु उन्होंने लोकजीवन में प्रचलित आल्हा, लावनी, धम्मार, चौताल जैसे छंदों को स्वीकार कर हिन्दी कविता

को नया छंद विधान प्रदान किया। 'छायावाद की मुख्य छंद प्रवृत्ति को देखने से पता चलता है कि इसका प्रेरणा स्रोत लोकजीवन है और उसी से बहुत कुछ उपकरण लेकर छायावादी कवियों ने तरह-तरह के छंद गढे' (डॉ. नामवरसिंह, छायावाद, पृ. 130) अकेले निराला ने अनेक शास्त्रीय रागों और लोकछंदो का प्रयोग अपने काव्य मे किया। 'गीतिका' की भूमिका मे उन्होंने धम्मार, रूपक, रूपताल, चौताल, तीन ताल, दादरा आदि को स्वीकार करने की प्रक्रिया का जिक्र किया है। किन्तु निराला को इतने भर से ही संतोष नहीं हुआ। उन्होंने राग-रागिनी वाले लयात्मक स्थापत्य को भी तोडा तथा कविता को छंद तथा तुक दोनों से मुक्त किया। उन्होंने छंदों के अनुशासन को क्यों तोड़ा इसकी विषद व्याख्या उन्होने 'परिमल' की भूमिका में की है। किन्तु हमें यह साफ समझ लेना चाहिए कि छायावादी कवियों को भारतीय छद विधान, शास्त्रीय सगीत तथा लोक संगीत की परम्पराओं की गहरी जानकारी थी। निराला ने छंद व्यवस्था इसलिए नहीं तोड़ी कि उन्हे इस व्यवस्था का ज्ञान नही था बल्कि इसलिए तोड़ी कि उनके अन्दर आवेग इतना प्रबल था कि छदों की पुरानी सरणियों मे उस आवेग को सम्हाल पाने की क्षमता नहीं थी। यह एक ठोस हकीकत है कि छायावाद काल में कवियों का मुक्त हृदय सदियों से रुंधी जनमानस की आशा-आकाक्षाओं को अभिव्यक्त कर रहा था। यह बात दूसरी है कि कुछ लोगो ने इसका गलत अर्थ लिया। निराला तथा उनके समकालीनो को परम्परागत छद विधान, संगीत तथा लोक जीवन का गहरा ज्ञान था। महान व्यक्तित्वो की जीवन-झांकियों से गुजरने के बाद हमें यह आभास होता है कि जिन्होने भी युगान्तरकारी कृतियाँ दी हैं, उनकी जड़ें अपने परिवेश तथा अपनी संस्कृति की विरासत मे गहरी रही हैं।

किन्तु निराला द्वारा खोली गयी मुक्त छन्दता की राह ने परवर्ती कवियो को एक सरल सूत्र दे दिया। प्रयोगवादी कवियों ने इस सूत्र को पकड़ा और वे प्रयोग की राह पर चल पड़े किन्तु प्रयोगवाद की सीमा यह रही कि उसने स्थापत्य के परिवर्तन को साध्य मान लिया। प्रयोगवादी दायरे में आने वाली कविता में भाषायी तथा नये बिम्बो की खिलवाड़ थी जिनकी जड़ें जीवन मे नही थी। उनके पास एक बनावटी भाषा थी जिसका सम्बन्ध अनुभव की गहराई से नहीं था। श्रीकान्त वर्मा का यह कहना 'भाषा और अनुभव के, अविभाज्य हो जाने के बाद ही कविता के प्रश्न शुरु होते हैं, (आलोचना-6, पृ. 57) तो ठीक है लेकिन जब वे यह कहते हैं, 'इन प्रश्नो को जिन पर छायावादी कवियों ने गौर नही किया, तारसप्तक ने उठाया' (वही) तो एक ऐतिहासिक तथ्य की गलत व्याख्या करते प्रतीत होते हैं। वस्तुतः कविता के कथ्य और शिल्प दोनों को जीवन पद्धति तय करती है। किसी भी कवि को ऊंचाई और गहराई इस बात से तय होगी कि उसने अपने परिवेश को कितनी आत्मीयता के साथ आत्मसात किया है। उसकी जड़ें जिन्दगी मे कितनी धंसी हुई हैं तथा अपने

सांस्कृतिक ज्ञान से सम्पन्न तथा उसके प्रति अनुरागपूर्ण सम्बन्ध रखते हुए अपने तात्कालिक जीवन से जो भी रचनाकार गहराई से वाबस्ता है उसे अभिव्यक्ति का संकट उसी अनुपात में कम होगा। हर मौलिक रचनाकार को अभिव्यक्ति के संकट से गुजरना पड़ता है और अभिव्यक्ति का संकट मूल रूप से एक सांस्कृतिक संकट है। मुक्तिबोध ने भी इस तथ्य को रेखांकित किया है, 'ध्यान में रखने की बात है कि कोई भी प्रतीक तभी तक भावोत्तेजना की शक्ति रखता है जब तक उसकी जड़ें सामाजिक सामूहिक अनुभवों में समायी हो, मात्र व्यक्तिगत धरातल पर तो हजारों प्रतीक खड़े किये जा सकते हैं' (मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड 5, पृ. 41) प्रयोगवादी कवियों में जो कवि इस तरह की दृष्टि से सम्पन्न थे, वे ही कवि रूप में जीवित रह सके।

यदि प्रयोगवाद से लेकर आज तक की हिन्दी कविता की छन्दमुक्तता का वैज्ञानिक सर्वेक्षण किया जाए तो हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते है कि कविता के नाम पर काफी मात्रा में लचर गद्य लिखा गया है। छंद मुक्तता का अर्थ कविता का कोरा गद्य होना नही है। इस दृष्टि से कविता के स्थापत्य में परिवर्तन के मानक निराला थे। निराला के पास एक साफ जीवन दृष्टि थी तथा भारतीय संस्कृति में उनके ज्ञान और अनुभव की जड़ें बहुत गहरी थी इसलिए वे 'राम की शक्ति पूजा' जैसी भव्य रचना दे सके जिसका स्थापत्य ताजमहल के स्थापत्य की तरह ही उदात्त है। देखने की बात यह है कि निराला की 'सरोज स्मृति,' 'तुलसीदास', 'राम की शक्तिपूजा' कविता के रूप में प्रसाद की 'कामायनी' से बेहतर है किन्तु 'कामायनी' अपने संश्लिष्ट स्थापत्य के कारण ही छायावाद की सर्वश्रेष्ठ कृति बन गयी है।

यहां एक और प्रश्न भी हमारे सामने आता है—'राम की शक्ति पूजा' अपनी सामासिक बनावट में सरल कविता नही है किन्तु फिर भी कविता के रूप में वह एक बड़े पाठक वर्ग को आकृष्ट करने में समर्थ है। नागार्जुन का आम भाषा में लिखी गयी कविताएं सहज ही पाठक के मन पर अपना प्रभाव छोड़ती है जबकि इधर की सरल से सरल कविता पाठक तक नही पहुंच पाती। (या पाठक को कविता नही लगती), इधर के चर्चित कवि लीलाधर जगूड़ी की एक लम्बी कविता है—'इस व्यवस्था में।' इसकी कुछ पंक्तिया लीजिए :

देखो/इस देश की हर सडक/तिजोरी तक जाती है
और तुम्हारे लिए पोस्टकार्ड की कीमत बढ़ जाती है/
चीजों के नामो से भरी/इन चौड़ी जगहो पर/
तबियत अचानक उखड़ने लगती है/तब तुम्हें हर बार यही क्यों

लगता है/मकान में ग्रौर शहर में बड़ा भारी भेद है। ग्रर्थ
उगते हैं/गोया/तुमने इन्हें नहीं बोया। जरूर कोई छेद है/
जो तुम्हारी ग्राय से होकर उतना नहीं/जितना तुम्हारे
ग्रण्डरवीयर/ग्रौर बनियान से है/या तुम्हारी बीवी के
नाड़े ग्रौर खदान से है।

पूरी कविता में ग्राज की व्यवस्था में ग्रा गयी विसंगतियों का चित्रण है किन्तु बानगी रूप में रखी उक्त पंक्तियां पढ़ने से तो न तो व्यवस्था के खिलाफ कोई गुस्सा पैदा होता है ग्रौर न व्यवस्था की क्रूरताग्रों का सीधा ग्रहसास ही होता है। हां एक ग्रश्लील भेदसपन चौंकाता जरूर है। किन्तु क्या यह कविता की शब्दावली है ? ग्रण्डरवीयर, बनियान, बीवी का नाड़ा ग्रौर खदान—क्या ये शब्द सार्थक बिम्ब बनकर कविता में तब्दील हो पाते हैं ? यदि नहीं तो इस कविता का मतलब क्या है ? लीलाधर जगूड़ी तथा उनके समकालीन कवियों में यह निरर्थक ग्रौर ग्रश्लील भदेसपन इफरात से मिलेगा। उससे पाठक के हिस्से में कुछ नहीं ग्राता। निराला के बाद के कवियों में मुक्तिबोध सबसे दुरुह ग्रौर ग्रमूर्त कवि माने जाते है किन्तु यदि उनकी कविता को उनकी सांस्कृतिक ग्रौर सामाजिक जीवन-दृष्टि के ग्रालोक पढ़ा जाए तो मुक्तिबोध की कविता ग्रत्यन्त ग्रात्मीय लगने लगती है। दरग्रसल छन्दमुक्तता के नाम पर हिन्दी में एक ग्रराजकतापूर्ण गद्य लिखा गया जिसमें नये तथा विचित्र किस्म के प्रतीक ग्रौर बिम्ब ठूंसे गये। इससे न कविता का हित हुग्रा न पाठकों का।

गत दिनों में कविता का बाजार भाव बढ़ने से कवियों ग्रौर काव्य-संग्रहों की जो बाढ़ ग्रायी है उसे देखने पर फिर प्रश्न उठता है कि उसमें कविता कहां है ? काव्य-समीक्षा की हालत तो यह है कि जो कुछ प्रत्यय समीक्षक के मन में हैं उन्हें वह किसी भी (मित्र) कवि की कविता पर चस्पा कर उस कवि को गत दशक का (कम से कम) सर्वश्रेष्ठ कवि घोषित कर देता है। पिछले दिनों ऐसा हुग्रा है कि कुछ कवियों को हाथों-हाथ उठाकर ग्रासमान पर चढ़ा दिया गया है। कविता के स्थापत्य पर समीक्षक बात ही नहीं करता। ज्यादा से ज्यादा किया तो लिख दिया कि कवि की भाषा का तेवर ग्राम बोलचाल की भाषा का है। किन्तु ग्राम बोलचाल की भाषा का प्रयोग मात्र कविता नहीं बनाता। कविता में फिकरेबाजी ग्रौर बयानबाजी इतनी ग्रधिक है कि कविता ग्रौर किसी राजनेता के बयान में कोई फर्क नहीं लगता। राजेश जोशी (जिनके बारे में गीता शर्मा का बयान है—कविता के रूपात्मक गठन ग्रौर उसकी ग्रान्तरिक संरचना के ग्रत्यन्त कलापूर्ण सौष्ठव की दृष्टि से राजेश ग्रपनी पीढ़ी के ग्रन्य कवियों से तो विशिष्ट है ही, इस क्षेत्र में उन्होंने साठोत्तरी पीढ़ी के

प्रौढ़ कवियो को भी पीछे छोड़ दिया है—आलोचना, 56–57, पृ. 160) की कविता पंक्तियां देखिये—

उन्होने रग उठाए
और आदमी को मार डाला
उन्होने संगीत उठाया
और आदमी को मार डाला
उन्होंने शब्द उठाए
और आदमी को मार डाला

बेशक ये पंक्तियां सर्वहारा के पक्ष मे हैं और पूंजीवादी मानसिकता और व्यवस्था पर चोट करती हैं पर इस तरह चीजो की लम्बी फेहरिश्त पेश करते जाने से क्या कोई कविता रचना बन जाती है ? समाजशास्त्री और इतिहासकार जिन तथ्यों का परिगणन करता है, साहित्यकार का काम उन तथ्यों के बीच छूटे जीवन-सौन्दर्य के रग-रूपो को भरना है । वह उस सौन्दर्य को उद्भासित करता है, जो घटनाओं की सांख्यिकी में इतिहासवेत्ता और समाजशास्त्री से छूट जाता है । दुर्भाग्य से आज कविता मे तथ्यों का परिगणन हो रहा है और कविता एक वोटर लिस्ट जैसी चीज होती जा रही है ।

दूसरा मुख्य कारण यह है कि कविता की इमारत खाली शब्दो पर टिकी हुई है । संदर्भहीनता रचना को हर दृष्टि से खोखला कर देती है । संदर्भहीनता के कारण अच्छे अच्छे प्रतिबद्ध कवि भी कलाहीन और प्रभावहीन रचना देते देखे गये है । जिनके विचार अनुभूति मे नही बदल पाते वे कोरे शब्दों की खिलवाड़ करते रहते है माना कविता के स्थापत्य में सबसे महत्वपूर्ण तत्व शब्द है । अज्ञेय तो यहां तक कहते हैं "काव्य सबसे पहले शब्द है । और सबसे अन्त में भी वही बात बच जाती है कि काव्य शब्द है । सारे कवि कर्म इसी परिभाषा से निःसृत होते हैं । शब्द का ज्ञान-शब्द की अर्थवत्ता की सही पकड ही कृतिकार को कृती बनाती है । ध्वनि, लय, छंद आदि सभी प्रश्न इसी मे से निकलते है और इसी मे विलय होते है । इतना ही नही, सारे सामाजिक संदर्भ भी यहीं से निकलते हैं : इसी में युग सम्पृक्ति का और कृतिकार के सामाजिक उत्तरदायित्व का हल मिलता है या मिल सकता है । (तार सप्तक-पुनश्च-चतुर्थ संस्करण, पृ. 301) यहां अज्ञेय के विचारो की समीचीनता पर विचार करना हमारा लक्ष्य नही है फिर भी इतना तय है कि केवल शब्द कविता नही है ठीक उसी तरह जैसे संगमरमर ताजमहल नही है । कारीगर पत्थर को स्थापत्य के अनुरूप तराश कर उसका प्रयोग करता है तभी वह इमारत के सौन्दर्य का हिस्सा बनता है । तब वह मात्र पत्थर नहीं रह जाता । कविता मे शब्द की भी यही स्थिति है । संस्कृत के आचार्यो ने तो शब्द के प्रयोग तथा शब्द की क्षमता पर

व्यापक रूप से विचार किया था तथा शब्द के सार्थक प्रयोग पर बल दिया था। शब्द-शक्ति, काव्य-दोष आदि व्यवस्थाएं कवि को शब्द के प्रयोग के प्रति सतर्क रहने की दृष्टि से की गयी थी। आधुनिक युग मे कवि को ऐसी कोई छूट नही मिली है कि वह शब्द के प्रयोग के प्रति असजग रहकर भी काव्य-रचना कर सकता है। कविता मे न तो शब्द के गलत प्रयोग की गुंजाइश होती है न शब्द के अपव्यय की। आचार्यों ने पुनरुक्ति दोष नामक एक काव्य दोष बताया। किन्तु एक सक्षम कवि इसे कविता की शक्ति मे बदल सकता है और एक असावधान कवि पुनरुक्ति का शिकार हो कविता का नुकसान भी कर सकता है। जगन्नाथदास रत्नाकर के 'उद्धव शतक' के एक छद की अन्तिम पक्ति है 'हिमको लिख्यो है कहा ? हमको लिख्यो है कहा ? हमको लिख्यो है कहा ? बूझन सबै लगी। कवि ने एक ही पक्ति मे 'हमको लिख्यो है कहा' वाक्याश का प्रयोग तीन बार किया है, किन्तु यही प्रयोग इस छन्द का सौन्दर्य है। इस वाक्यांश की आवृत्ति से गोपियों के कृष्ण के प्रति अनन्य प्रेम, कृष्ण के समाचार जानने की व्याकुलता, उनकी बेताबी, कृष्ण के अभाव में उनकी मन.स्थिति का आभास, पाठक को सहज ही हो जाता है। निराला की प्रसिद्ध कविता 'तोडती पत्थर' कथ्य की दृष्टि से हीं नही शिल्प की दृष्टि से भी बेजोड है। इस कविता में दो बार 'वह तोडती पत्थर' तो एक बार 'मैं तोडती पत्थर' का प्रयोग हुआ है, 'किन्तु संदर्भ के अनुसार पत्थर का अर्थ क्रमश. बदलता गया है, पहले सडक का पत्थर, फिर अट्टालिका का पत्थर और अन्त में अपना हृदय का पत्थर। एक ही हथौडा पहले सड़क पर पडता है, फिर अट्टालिका पर और अन्त में स्वयं तोडने वाली के हृदय पर। कविता की सघन संरचना मे एक वाक्य की आवृत्ति इतने अर्थ पैदा कर सकती है।' (डॉ. नामवरसिंह—'कविता के नये प्रतिमान, पृ. 143)। रघुवीर सहाय की प्रसिद्ध लम्बी कविता 'आत्महत्या के विरुद्ध' मे 'समय आ गया है' वाक्याश की आवृत्ति बार-बार होती है किन्तु हर संदर्भ में एक ही वाक्य अपनी आवृत्ति के बावजूद नया अर्थ ध्वनित करता है, कहीं विडम्बना, कही खीभ, कही गुस्सा और कही उपहासास्पदता वही, पृ. 154)।

इधर की कविताओं मे एक ही शब्द या वाक्यांश की आवृत्ति खूब देखी जा सकती है और यह भी देखा जा सकता है कि कवि शब्दों के प्रयोग के प्रति कितने असावधान हैं। नयी पीढी के बहुचर्चित कवि, विजेन्द्र की डेढ़ पृष्ठ से भी कम की एक कविता है 'भरी फसल', जो उनके 'चैत की लाल टहनी' संग्रह मे संकलित है। इस कविता में 'शीत' शब्द का प्रयोग नौ बार हुआ है और कविता की अन्तिम चार पंक्तियां हैं—हवा/शीत है/शीत/शीत। इसमें 'हवा शीत है' वाक्यांश पाच बार आया है। मुझे नही लगता कि वह पाच अर्थ ध्वनित करता है या इसकी पाच बार आवृत्ति कविता को कोई विशेष अर्थवत्ता प्रदान करती है। यदि ऐसा नहीं है तो यह कविता

के स्थापत्य की कमजोरी है और कवि उसके प्रति जागरूक नहीं है। दरअसल आज समूची कविता की यह कमजोरी है। अकवितावादियों के पास कुछ शब्द थे जिसका सहारा लेकर वे अपनी कविता का ढांचा खड़ा करते थे। आम आदमी की पक्षधर कविता भी चन्द जुमलों और बयानों में सिमटकर रह गयी है। कविता में कम से कम शब्दों में ज्यादा से ज्यादा बात कही जाती है किन्तु आज कविता में अधिक से अधिक शब्दों में कम से कम बात कही जा रही है। सपाटबयानी के नाम पर ज्यादातर कविता बयानबाजी बनती जा रही है और बड़बोलेपन का शिकार हो रही हैं। छंद तथा तुकवाली कविता में तो फिर भी भरती के शब्दों की गुंजाइश हो सकती है क्योंकि वहां मात्रा वगैरह की सीमाओं में रचनाकर्म सम्पन्न करना होता है किन्तु मुक्त छंद में तो कवि को यह स्वतन्त्रता मिल जाती है कि वह एक भी शब्द का अपव्यय न करे। किन्तु इधर कविता में शब्दों का बराबर अपव्यय हो रहा है। ऋतुराज आज की पीढ़ी के बहुत सक्षम तथा जागरूक कवियों में हैं। उनकी कविता—'हसरुद्दीन' की पंक्तियां है—

> ब्राह्मण ने तुम्हें मकान नहीं दिया तुम भाग आये/
> लाला की देहरी से प्यासे ही लौट आए/
> क्योंकि उसने तुम्हें पानी नही पिलाया।

यहां अन्तिम पंक्ति निरर्थक है। यह न होती तो भी बात समझ में आ जाती। 'आलोचना' (पूर्णांक 38 अप्रेल–जून, 1967) में एक साथ दो कविताएं छपी है—धूमिल की 'बीस साल बाद' और भारतभूषण अग्रवाल की 'अन्वेषण।' दोनों कविताओं का कथ्य कमोवेश एक ही है। धूमिल की कविता 38 पंक्तियों की है जबकि भारतभूषण अग्रवाल की 229 की। जो बात धूमिल ने (आजादी मिलने के बीस साल बाद देश की स्थिति) 38 पंक्तियों में पुरअसर ढंग से कही है वही बात भारतभूषण अग्रवाल 229 पंक्तियों में कह पाए हैं। कविता के गद्य होते जाने की प्रक्रिया में इस अनावश्यक स्फीति ने हिन्दी कविता को शब्दों से भर दिया है।

गौर तलब बात यह है कि कविता की भाषा केवल शब्द नहीं होती प्रत्युत भाषा एक संस्कृति की उपज होती है जिसका आधार वर्गीय होता है। जब कोई शब्द किसी भाव या विचार को अभिव्यक्त करता है तो उसमें एक सांस्कृतिक छाप होती है जो वर्गातीत नहीं होती। जब कवि किसी शब्द को कविता में पिरोता है तो उस शब्द से जुड़ी सांस्कृतिक छाप अनायास ही कविता में चली आती है और कविता को नया अर्थ प्रदान करती है। यदि कवि ने उस शब्द को उसकी सांस्कृतिक छाप से मुक्त कर दिया तो वह न केवल उस शब्द के साथ ज्यादती होगी बल्कि कविता में अपेक्षित प्रभाव भी नहीं आ पाएगा।

इधर कविता का मुहावरा तेजी से बदला है और ग्राम बोलचाल के शब्दों का प्रयोग कविता में खूब हुआ है, किन्तु ग्राम बोलचाल के शब्दों की इस फैशन परेड से भरी कविताओं को पढने से लगता है कि जैसे कवि पहले शब्दों को तलाशते हैं और फिर उन्हें फिट करने के लिए कविता लिखते हैं। नतीजा, वे शब्द कोरे शब्द रह जाते हैं, कविता नही बन पाते। फिर मैं, विजेन्द्र की एक कविता का उदाहरण दे रहा हूं क्योंकि उन्हें आंचलिक शब्दों के प्रयोग का ज्यादा ही शौक है। वे अपनी कविता मे अपने अंचल को जनबोली के शब्दों का प्रयोग खूब करते हैं। किन्तु इन शब्दो के प्रयोग की असफलता का अन्दाजा तो इसी से लगाया जा सकता है कि उन्हें अपने 'ये आकृतिया तुम्हारी' काव्य संग्रह के अन्त मे ऐसे शब्दों की कुंजी भी देनी पड़ती है। 'चैत की लाल टहनी' संग्रह में उनकी एक प्रेम कविता है—'अंधेरे कठघरे मे'। इसमे कवि अफसोस जाहिर करता है कि वह ऐसे गीत नही लिख सका जिन्हे उसकी प्रेयसी गा सके। उसे अफसोस है कि, 'ये/कभी मेरे लिए/सूखी लकडी/नही बन सकते। बबूल के हरे ढाकर/नही बन सकते/तो/इनका क्या होगा?' इन पंक्तियो मे 'बबूल के हरे ढांकर' पंक्ति पर गौर करें। ब्रज तथा उसके आसपास की बोली मे दो मुहावरे है—सूखकर ढांकर होना तथा रास्ते में ढाकर बखेरना। वहा ढाकर शब्द का जब-जब प्रयोग होता है सूखापन उससे स्वत: ही ध्वनित होता है क्योंकि ढांकर तो सूखा ही होता है। यहां हरा ढाकर कहकर कवि कौन-सा नया अर्थ ध्वनित करना चाहता है यह स्पष्ट नही हो पाता। उलटा हरा ढांकर प्रयोग जन-बोली से कट जाता है। इसी कविता में कुछ और आंचलिक प्रयोग खटकते हैं—'फसलों पर चैंपा बैठ रहा है (फसल, पर चैंपा लगता है—प्रयोग होता है), 'पशुओ के खुर पक रहे है' (बोली में 'पशुओ के खुर आना' प्रयोग होता है जिसका अर्थ होता है खुर पकना)। इस तरह के प्रयोग यह भी प्रमाणित करते हैं कि कवि ग्रामीण बोली के शब्दों को प्रयोग करने के प्रति अधिक लालायित है और कवि अपनी सास्कृतिक विरासत का भी ठीक प्रकार उपयोग नही कर पा रहा है। इसमें दो राय नही कि रचनाकार आम आदमी के मुकाबले ज्यादा संवेदनशील होता है और यह भी सही है कि जो कवि जितना ज्यादा संवेदनशील होता है उतनी ही प्रभावशाली रचनाएं दे सकेगा। लेकिन कवि कर्म कोरी संवेदना से ही सम्पन्न नहीं हो पाता। देखने की बात है कि कवि को अपनी सांस्कृतिक विरासत का कितना ज्ञान है, परिवेश के साथ उसका कितना आत्मीय सम्बन्ध है तथा परिवेश से प्राप्त अभिव्यक्ति माध्यमों पर उसकी कितनी मजबूत पकड़ है। यदि ऐसा न होता तो निराला के बाद की पीढ़ी के कवियो की भारी भीड़ में मुक्तिबोध, अज्ञेय, नागार्जुन, त्रिलोचन, शमशेरबहादुरसिंह, भारती, रघुवीर सहाय, केदारनाथसिंह, केदारनाथ अग्रवाल, धूमिल आदि कवियो के नाम अलग चमकते दिखायी न देते। वही कवि प्राप्त चीजों को कविता मे सार्थक बिम्बों में बदल सकता है जिसका अपने

के साथ रागात्मक रिश्ता है। इधर ग्राम आदमी के संघर्ष के पक्ष में खूब कविताएं लिखी गयी हैं जो एक शुभ लक्षण है, किन्तु ग्राम आदमी की जिन्दगी और उसकी जिजीविषा को वही बिम्ब अच्छी तरह उभार सकते हैं जिनकी कवि को अच्छी जानकारी है। यहा दो उदाहरण दे रहा हूं : चन्द्रकान्त देवताले की कविता की पंक्तियां हैं :

उस वक्त वह गेंती की तरह गुजरते दिसम्बर की
मिट्टी में खुद तेज हलचल था
बरसो से तहस-नहस थी उसकी जिन्दगी
बगीचे के लिए जब एक ही फूल उसकी
नसीब मे नही था।
फिर भी ताज्जुब कि वह नाखुश नही था।

ये पंक्तियां किसान के श्रम और उसकी जिजीविषा को रेखांकित करती हैं, किन्तु 'दिसम्बर की मिट्टी मे गेंती की तरह गुजरते हुए' बिम्ब बहुत प्रभावकारी नहीं बन पाता जबकि केदारनाथसिंह की निम्नांकित पंक्तियां सार्थक बिम्ब के माध्यम से कथ्य को बहुत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत कर देती है :

मैंने उसको
जब-जब देखा
लोहा देखा
लोहा जैसा
तपते देखा
गलते देखा
ढलते देखा
मैंने उसको
गोली जैसा
चलते देखा।

इन पंक्तियों मे कविता की कसावट तो मुकम्मल है ही, बिम्ब विधान भी अत्यन्त सार्थक और भाव-सम्प्रेषण में समर्थ है।

इधर की कविता में दो प्रवृत्तिया (खामियां) स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है—1. शब्दों का अपव्यय अथवा शब्दों को जबरदस्ती कविता बनाने की कोशिश, 2. कविता को कोरे गद्य में बदलने की कोशिश। किन्तु कविता में प्रयुक्त शब्द जब तक कोई विशिष्ट अर्थ ध्वनित नही करता या किसी सार्थक के बिम्ब में परिणत नही होता तब तक वह कविता का अंग भी नही बनता। गद्य और पद्य की मूल

प्रकृति में ही अन्तर है। दरअसल कवियों ने छन्दमुक्तता का अर्थ ही गलत लगा लिया। छन्द मुक्ति का अर्थ कविता का गद्य होना नहीं है। "कुछ लोगों ने इसका अर्थ किया है छंद से मुक्ति। उनके अनुसार मुक्त छंद वह है जिसमें कोई छन्द ही न हो। लेकिन इस तरह की बात वही करते हैं जिनका संगीत बोध कुंठित होता है। वस्तुतः मुक्त छन्द की कविता पढने से किसी न किसी लय का बोध तो होता ही है। इससे यह पता चलता है कि मुक्त छंद में लय तो है परन्तु उसमें तुक नहीं है और उसके सभी चरण सम नहीं हैं, उनका अर्थ यह है कि मुक्त छन्द में छन्द के बाह्य आडम्बर तो नहीं है परन्तु उसकी आत्मा 'लय' अवश्य है।" (डॉ. नामवरसिंह, छायावाद, पृ. 133) जाहिर है परम्परागत छंद विधान के परित्याग का अर्थ कविता का अराजक गद्य होना नहीं था। हिन्दी कविता में मुक्त छन्दता तो कविता के सहज विकास का द्योतक है। "मुक्त छन्दों की रचना में एक और भी कारण सहायक हुआ। छापे की मशीन आ जाने से आधुनिक कविता श्रव्य की जगह पाठ्य हो गयी।" (वही, पृ. 134) फलतः कविता को पढ़कर उसका आस्वादन करने का अवसर पाठक के हाथ आ गया। किन्तु वही कविता पाठ्य हो सकती है जिसका स्थापत्य किसी न किसी प्रकार के संगीत या लय पर खड़ा हो। कविता से संगीत और लय को नकारना एक प्रकार से कविता के कवितापन को ही नकारना है क्योंकि बिना संगीत या लय कोई कविता श्रव्य तो होगी ही नहीं पाठ्य भी नहीं हो सकती। मुक्तिबोध के काव्य के संदर्भ में श्रीकांत वर्मा ने एक बडी भ्रामक बात कही है, "मुक्तिबोध का काव्य संगीत का निषेध करता है। यही नहीं बल्कि वह संगीत को कविता विरोधी मानता है। संगीत कविता की अमूर्त परिणति है······ अपने युग के बर्बर सवालों को उठाने वाली कविता का गठन संगीतात्मक कैसे हो सकता है? इस तरह की कविता भाषा-संगीत के मूल्यों को नष्ट करती है, उसे सख्त, नुकीली और चट्टानी बनाती है" (आलोचना, 5, पृ. 57-58) वे आगे कहते हैं, "अन्धेरे में कविता में न कोई कौशल है न कोई संगीत—केवल एक तनाव उसके अन्तर्विरोधों से भरे हुए संसार को जोड़े हुये है। इस तनाव के कारण ही यह कविता, कविता है अन्यथा उसके अभाव में उसमें और गद्य में कोई फर्क नहीं रह जाता। नयी कविता की चरम परिणति गद्य की लय में हुई है। मुक्तिबोध की कविता गद्य की लय नहीं गद्य का तनाव है।" (वही, पृ. 58) मुक्तिबोध की कविता को संगीतहीन मानना एक भूल होगी, यह भले ही कह लें कि मुक्तिबोध ने हिन्दी कविता को एक नया संगीत दिया। उनकी 'ब्रह्मराक्षस' तथा 'अंधेरे में' जैसी प्रौढ रचनाएं एक अलग तरह के संगीत में गुथी हुई है। इन कविताओं को पढ़ने पर हमें आभास होता है कि उनमें एक ठंडा और धीमा संगीत भी विद्यमान है, जो तनाव को व्यक्त करने के सर्वथा उपयुक्त है। तनाव या संघर्ष तो मुक्तिबोध की कविता का प्राण है। यह किसी से छिपा नहीं है कि मुक्तिबोध अपनी कविताओं को कितना संवारते-सुधारते थे। वे

भाषा को एक परिष्कृत स्तर पर स्वीकार करते हैं। वे फंतासी को अपनी कविता के स्थापत्य का अंग बनाते हैं तो अपनी कविताओं के बिम्ब अपने सांस्कृतिक जीवन से चुनते हैं। कविता के स्थापत्य के बारे में मुक्तिबोध जितने सजग हैं उतने ही बहुत कम कवि होते हैं। उन्होंने स्वयं लिखा है—"आज का पद्याभास गद्य जो मुख्यतः व्यक्त करता है, वह यह कि इस द्वन्द्व में, इस घिराव में, सुमधुर लयात्मक किन्तु गणित यन्त्रीय छन्दों का स्थान नहीं' (मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड 5, पृ. 97)। इसका सीधा सा अर्थ है कि वे परम्परागत छन्द विधान तथा गीतात्मकता का निषेध करते हैं। कविता के बारे में मुक्तिबोध ने स्पष्ट कहा है, "वह तीव्र मानसिक प्रतिक्रिया के रूप में उपस्थित होने से ही उसकी लय गद्यात्मक है। वह मुख्यतः पद्याभास गद्य है। उसका सौन्दर्य, उसकी गहराई और प्रभाव न केवल उसकी तीव्रता में है, वरन् उसके व्यापक मानसिक अभिप्राय में है बशर्ते कि ऐसा व्यापक मानसिक अभिप्राय हो। (वही, पृ. 121) जाहिर है कि मुक्तिबोध कविता में न लय का विरोध करते हैं न संगीत का। व्यापक मार्मिक अभिप्राय उत्पन्न करने के लिये उन पद्याभास गद्य में लय का होना जरूरी है।

प्रश्न उठता है कि क्या बिना संगीत या लय के भी कविता की कल्पना की जा सकती है? श्रीकान्त वर्मा जैसे कवियों का उत्तर हां में हो सकता है। किन्तु यहीं से कविता की पच्चीकारी का सवाल प्रारम्भ हो जाता है। पहले कविता को तुक से मुक्त किया गया, फिर छन्द से, अब संगीत और लय से मुक्ति की बात भी हो गयी। मान लिया कविता में किसी प्रकार के संगीत या लय की आवश्यकता नहीं है किन्तु यह भी कवि को प्रमाणित करना पड़ेगा कि जो फार्म उसने विचार या भाव की अभिव्यक्ति के लिये चुना है वही स्थापत्य संगत और उपयुक्त है। कविताओं में पूरे पन्ने पर बेतरतीब पंक्तियों में बेतरतीब ढंग से बिखरे मिलते हैं। स्वयं श्रीकान्त वर्मा की अनेक कविताएं ऐसी मिल जाएंगी। किन्तु अब यह तो सोचना ही होगा कि इस प्रकार के विचित्र पंक्ति-विधान की संगति क्या है? हमें यह सिद्ध करना पड़ेगा कि कवि ने कविता को स्थापत्य देने के लिये शब्दों को जो उतेर्रा बखेरा है वही भाव-सम्प्रेषण के लिये आवश्यक था (यहां उतेर्रा शब्द की व्याख्या कर दूं—किसान बीज बोते वक्त जुताई का एक स्थापत्य चुनता है ताकि उगने पर पौधे सुन्दर लगें। गेहूं या जौ के खेत में किसान सरसों के दाने बेतरतीब ढंग से बखेर देता है। थोड़े से बड़े होते ही किसान पशुओं के चारे के लिये इन पौधों को उखाड़ लेता है। यही पौधे उतेरा कहलाते हैं) अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों का ज्ञान रचनाकार को अपनी अन्दरूनी कसमसाहट को अभिव्यक्त करने के लिये जरूरी होता है। यह एक ठोस सत्य है कि यदि किसी कवि को गजल विधा का ज्ञान नहीं है तो उसकी संवेदना कितनी ही तीव्र क्यों न हो उसकी अभिव्यक्ति गजल में नहीं

होगी। वह ग्रपनी संवेदना के लिए उसी ग्रभिव्यक्ति रूप का प्रयोग करने को बाध्य है जो उसे ज्ञात है।

ग्राज के कवि के पास कविता का जो फार्म है क्या उसे ज्ञात है ? क्या वह जानता है कि ग्रपनी कविता का जो ढांचा वह दे रहा है, वही—केवल वही—उसके लिए जरूरी है ? एक उदाहरण लेकर इन प्रश्नों पर विचार करें। गिरधर राठी की एक कविता है—"एक जिन्दगी का खाका" जो इस प्रकार है—

शुरुग्रात के लिए   एक थाली/एक लंगोट/
          बल्कि सिर्फ लंगोट
          या यह भी नहीं
शुरुग्रात के लिए   केवल तुम   सदेह
          देह प्यारी है जब तक है
ग्राग्रो गाएँ
देह की गाथा
शुरुग्रात के लिए   भारहीन मुक्त
ग्राग्रो बजाएँ
शुरुग्रात के लिए····   बेंत से।
लो खोदो यह
पहाड़ वह घाटी
उठो चलो दौड़ो   उठाग्रो यह पालकी
उठो ग्रौर सुनो
बार बार उठो   सुनो सिर्फ सुनो
बोलो मत
दौड़ो
ग्रौर गाग्रो भी
कितनी ग्रधम योनियों के बाद
मिली है नर (या मादा) देह
"धन्यवाद ! जो भी ले काम
जब तक यह रहे····"
दौड़ते दौड़ते इसी तरह एक दिन
पहुंच जाग्रोगे स्वर्ग खाली थाली बजाते हुए

शुरुआत के लिए
काफी है यही

यदि इस कविता की पंक्ति-योजना बदल दी जाए तो क्या कविता के अर्थ पर कोई प्रभाव पड़ेगा ? शायद बिल्कुल नहीं। अन्तिम दो पंक्तियों की आवश्यकता बिल्कुल नहीं है। पांचवीं पंक्ति में 'शुरुआत के लिए/केवल तुम सदेह' के बीच खाली जगह क्या प्रकट करती है ? यदि ये शब्द बिना खाली जगह के एक साथ लिखे जाते तो मूल-संवेद्य पर क्या फर्क पड़ता ? शुरुआत के लिए के आगे ...... बिन्दु क्या ध्वनित करते हैं ? यदि इस कविता को पढा जाए तो किस प्रकार पढा जाए ? इस कविता के कथ्य का विश्लेषण किया जाए तो निश्चय ही कवि की खोखली दृष्टि का ही परिचय मिलेगा। कथ्य की दृष्टि से यह कविता अकविता से किस प्रकार भिन्न है ? इसकी सारी शब्दावली तो अकविता की है। किन्तु यदि हम कथ्य को छोड़ इसके स्थापत्य पर ही चर्चा करें तो इसकी सारी पोल खुल जाती है कि कवि ने चुहुलबाजी के लिए शब्दों का यह उतेरा बिखेर दिया है जिन्हें आज समर्थ कवि घोषित किया जा रहा है उनकी भी कमोवेश यही हालत है। मुझे लगता है कि उन कवियों को कविता के परम्परागत उपादानों की गहरी जानकारी नहीं है।

एक खास बात यह भी देखने को मिलती है कि हर कवि कविता पर कविताएं लिख रहा है, और खूब लिख रहा है। हर कवि अपने-अपने ढंग से कविता की व्याख्या कविता में कर रहा है। कोई कविता को हथियार बनाकर क्रांति का माध्यम बना रहा है, कोई कविता से पूंजीवादी व्यवस्था को ध्वस्त कर रहा है तो कोई कविता को मादा-योनि की सडाघ से रूपायित कर रहा है। कविता पर लिखी जा रही इन कविताओं का विश्लेषण इसलिए अपेक्षित है कि कवि इनके माध्यम से अपनी दृष्टि का प्रक्षेपण कर रहा है। यह भी हो सकता है कि कवि को अपने कृतित्व पर भरोसा नहीं है इसलिए इस तरह की कविताएं लिख रहा है।

अब सवाल उठता है कि कवि इन सीमाओं को कैसे तोड़े ? वह अपनी कविता को जीवन्त कैसे बनाए ? मैं कवि-शिक्षा जैसा लेख लिखकर कवियों का मार्गदर्शन करने का खतरा नहीं उठा सकता पर मुझे यह लगता है कि कविता के नाम पर जो अराजक-गद्य आ रहा है उसकी परीक्षा होनी चाहिए तथा कविता की विवेचना रचना-प्रक्रिया को सामने रखकर होनी चाहिए। यदि हम कवि की रचना प्रक्रिया पर बातचीत करें तो अपने आप स्पष्ट हो जाएगा कि कवि को जीवन-चिन्ता कितनी है तथा जीवनजगत की उसे कितनी गहरी जानकारी है। बिना जीवन चिन्ता के कवि साहित्य-चिन्ता भी नहीं कर सकता, वस्तुतः आज की अधिकांश कविता जीवन-स्थितियों के प्रति हलकी तथा कवि की व्यक्तिगत प्रतिक्रिया होती है। इस प्रतिक्रिया को कविता में तभी तब्दील किया जा सकता है जब कवि के पास

समर्थ शब्द सम्पदा है। तीव्र अनुभूति क्षमता हो और अभिव्यक्ति के माध्यमों पर उसका पूर्ण अधिकार हो। मुक्तिबोध के शब्दों में 'अभिव्यक्ति सम्पदा प्राप्ति के लिए निरन्तर संघर्ष आवश्यक है। वह प्रयत्न साध्य है, अभ्यासवश है' (मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड 5, पृ. 96) इस प्रयत्न तथा अभ्यास में कवि की अनुभव-समृद्धि आवश्यक है। यही अनुभव-समृद्धि कविता के रूप और शिल्प दोनों को समेटती है। यदि कवि का अनुभव समृद्ध और बहुआयामी नहीं है तो उसकी कविता का स्थापत्य निखर कर नहीं आ सकता और उसने जो कुछ शब्द विधान किया है, वह कविता नहीं हो सकता। कविता बनने के लिए उस शब्द विधान की जड़ें कवि के गहरे जीवन अनुभव में होनी आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब कवि अपने परिवेश से आत्मीयता के स्तर पर जुड़ा हुआ है और उसे अपनी सांस्कृतिक और साहित्यिक विरासत की गहरी जानकारी है।

आधुनिक हिन्दी कविता : व्यंग्य की नियति

निश्चय ही वर्तमान हिन्दी कविता मे (साठोत्तरी कविता शायद अब ठीक नही रहेगा) व्यंग्य का स्वर मुख्य रूप से मुखर रहा है। व्यंग्य कवि के पास वह अस्त्र होता है जिसके द्वारा वह जीवन की समस्त कुरूपताओं, असंगतियों तथा जीवन के ऊपर चढ़ी हुई अथवा चढ़ी जा रही रूढ़ियों की परतों को खुरच डालता है। कवि की दृष्टि बड़े गहरे पैठ पर समग्र जीवन को परखती है, लेकिन जब यही दृष्टि अभिव्यक्ति के स्तर पर व्यंग्य बन कर उभरती है तो उसमें एक भाव मूल रूप से विद्यमान रहता है—जो कुछ सामने है उसका अस्वीकार। यही अस्वीकार कभी-कभी तत्कालीन जीवन के अस्वीकार तक भी पहुंच जाता है। व्यंग्य की यह एक सीमा है कि वह जमीन के सभी पक्षों को अस्वीकार वातायन से ही देखता है। दूसरे, व्यंग्य का सम्बन्ध केवल वर्तमान से ही होता है, वह वर्तमान में ही जी पाता है। अतः व्यंग्य मे सर्वकालिकता और सार्वजनीनता का अभाव रहता है क्योकि वह केवल अपने वर्तमान को ही उघाड़ सकता है। अत. कालान्तर में व्यंग्य साहित्य को हम एक ओर रख देते हैं।

आधुनिक हिन्दी कविता में प्रयोगवाद के साथ ही व्यंग्य का प्रवेश हुआ, लेकिन समकालीन हिन्दी कविता का तो वह प्रमुख स्वर ही बन गया है। साठोत्तर काल में जितनी भी कविताएं सामने आयी हैं, उनमे से अधिकांश के तेवर व्यंग्य के कारण तीखे रहे हैं। कविता पर व्यंग्य के इस कदर हावी होने के कई कारण रहे—विश्व इतिहास में औद्योगीकरण के आन्दोलन ने मानव मन को जितना प्रभावित किया है उतना किसी अन्य आन्दोलन ने नहीं। औद्योगीकरण के कारण शहरी सभ्यता का विकास हुआ और बड़ी तेजी से भारत के 'बड़े गांव' आधुनिक नगर बन गये। इसी शहरी सभ्यता के विकास में नगर जीवन की दीवारें बड़ी जल्दी नयी समस्याओ के पर्दों से ढंक गयी और उनका असली रंग आंखों से ओझल हो गया। इसके साथ ही नगर का आदमी 'कब क्या होता है' और 'यह क्यों होता है' मे उलझ गया जिसका उसके पास उत्तर नही था। उसके चारों ओर नयी-नयी समस्याएं

थीं। इसके साथ ही इस युग की सबसे बड़ी विसंगति यह रही कि व्यापक मानवीय मूल्यों और मानवता की बातें इसी युग में हुई जबकि इस युग का आदमी ही सबसे ज्यादा व्यक्तिवादी बना है। नयी सभ्यता और असगति के इस माहौल में एक ओर बौद्धिकता का विकास हुआ तो दूसरी ओर मनुष्य को अपने जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं के बारे में अधिक चिंतित रहना पड़ा।

हुआ यही कि भावुकता-विहीन बौद्धिकता से आपूरित आज के जीवन की स्थितियां क्रूर जटिलताओं से जकड़ गयी जिनका प्रभाव कवि के मानस पर पड़ना स्वाभाविक था। अति बौद्धिकता और कठोर यथार्थ से साक्षात्कार के लिए व्यंग्य ही ऐसा अस्त्र बचता है जिससे बचाव की लड़ाई लड़ी जा सकती है। बचाव की लड़ाई के लिए हिन्दी के कवि ने इस अस्त्र को मज़बूती से पकड़ लिया और समकालीन कविता में उससे भरपूर वार करने लगा।

वर्तमान हिन्दी कविता में व्यंग्य का स्वर मुखर होने के पीछे भारत में राजनैतिक स्वप्नभंग की स्थिति का भी हाथ रहा है। हमारे लोकतन्त्र की परिणति जिस स्वप्नभंग में हुई कवि उससे सीधा जुड़ा हुआ था, उसने स्वप्नभंग की इस स्थिति को अपनी कविता में व्यंग्य की भाषा में कहने की चेष्टा की है। आजादी मिलने पर भारतीय मानस ने जिन सपनों को लेकर जीना शुरू किया था, राजनीति के ओछेपन ने उन स्वप्नों को दिशाहीनता की गुहा में धकेल दिया। दिशाहीनता की इस स्थिति से जूझने के लिए कवि के पास व्यंग्य ही सबसे उपयुक्त अस्त्र था, इसीलिए उसे कहना पड़ा —

कुछ लोग मूर्तियां बना कर
फिर
बेचेंगे क्रान्ति की (अथवा
षड्यंत्र की)
कुछ लोग
सारा समय
कसमें खाएंगे
लोकतन्त्र की

व्यंग्य में साफगोई के साथ जीवन के अन्तर्विरोधों को उघाड़ने की ताकत होती है। कवि की पैनी व्यंग्य दृष्टि दीवारों पर लगे पर्दों को फाड़ डालती है। इस काम में आज के कवि को सफलता मिली है लेकिन व्यंग्य केवल दीवार के पर्दे फाड सकता है दीवार का असली रंग नहीं देख पाता क्योंकि व्यंग्य का कार्य विध्वंसात्मक है, आगे जाने में वह विवश है।

आधुनिक हिन्दी कविता : व्यंग

निश्चय ही वर्तमान हिन्दी कविता मे (साठोत्तर
नही रहेगा) व्यंग्य का स्वर मुख्य रूप से मुखर रहा है
अस्त्र होता है जिसके द्वारा वह जीवन की समस्त कुरूपता
के ऊपर चढ़ी हुई अथवा चढ़ी जा रही रूढ़ियों की पर
कवि की दृष्टि बड़े गहरे पैठ पर समग्र जीवन को प
दृष्टि अभिव्यक्ति के स्तर पर व्यंग्य बन कर उभरती है त
से विद्यमान रहता है—जो कुछ सामने है उसका अस्वी
कभी तत्कालीन जीवन के अस्वीकार तक भी पहुंच
सीमा है कि वह जमीन के सभी पक्षों को अस्वीकार क
व्यंग्य का सम्बन्ध केवल वर्तमान से ही होता है, वह
है। अतः व्यंग्य मे सर्वकालिकता और सार्वजनीनता
केवल अपने वर्तमान को ही उघाड़ सकता है। अतः
हम एक ओर रख देते हैं।

आधुनिक हिन्दी कविता में प्रयोगवाद के
लेकिन समकालीन हिन्दी कविता का तो यह प्रमुख
काल में जितनी भी कविताएं सामने आयी हैं, उनमें
कारण तीखे रहे हैं। कविता पर व्यंग्य के इस कद
विश्व इतिहास में औद्योगीकरण के आन्दोलन ने
किया है उतना किसी अन्य आन्दोलन ने नहीं
सभ्यता का विकास हुआ और बड़ी तेजी से भारत
गये। इसी शहरी सभ्यता के विकास में नगर ज
समस्याओं के पर्दों से ढंक गयीं और उनका असली
इसके साथ ही नगर का आदमी 'कब क्या होता है'
गया जिसका उसके पास उत्तर नहीं था। उसके

विचारधारा के कवियों की सारी शक्ति का उपयोग शब्दों की टटोल में हुआ जिनके द्वारा वे पूंजीवादी व बुर्जुआ वर्ग की तीखी आलोचना कर सकते थे। उसी प्रकार आज के कवि की दृष्टि वर्तमान की क्रूरताओं को व्यंग्य से उघाड़ने पर आ कर टिक गयी है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि व्यंग्य ने कविता को नये मुहावरे की ताकत दी है जिसके द्वारा जीवन के कठोर तथा खुरदुरे यथार्थ को उघाड़ा जा सकता है। लेकिन इस कठोर यथार्थ के पार देखने की शक्ति उसमें नहीं है।

वर्तमान हिन्दी कविता के व्यंग्य के मूल में अतीत का अस्वीकार भी है। लेकिन केवल अतीत के अस्वीकार से वर्तमान की निर्मिति नहीं हो जाती। अतीत के अस्वीकार के साथ वर्तमान तथा भविष्य के लिए नए जीवन मूल्यों की खोज भी आवश्यक है जिसकी तह तक व्यंग्य नहीं पहुंच पाता। इस स्थिति में कवि स्वीकार करता है :

एक दिन यह
पाने की विफलता
और न पाने का दुःख
एक हो जाते है

अनेक कवि मूल्यहीनता के संसार तथा मूल्यहीनता के कारणों को केवल एक व्यंग्य के माध्यम से परिभाषित करना चाहते हैं। लेकिन इससे मूल्यों की खोज की यात्रा प्रारम्भ नहीं होती। और जब कविता में नये जीवन-मूल्यों की खोज की बात उठती है, तो हमारी दृष्टि अनायास ही, 'असाध्यवीणा', 'अंधा युग', 'आत्मजयी', 'संशय की रात', 'कनुप्रिया' जैसी रचनाओं पर जाती है क्योंकि ये रचनाएं हमारे वक्त की ही नहीं, हर वक्त की रचनाएं हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि वही रचना हर युग की रचना बन सकती है जिसमें व्यापक जीवन के प्रश्नों से साक्षात् करने की ताकत होती है। मैं मानता हूं कि अज्ञेय की 'सांप' कविता से लेकर रघुवीर सहाय की 'पुलिस रपट' या रामदरश मिश्र की 'दवा की तलाश' तक हिन्दी में बहुत अच्छी व्यंग्य कविताएं सामने आयी हैं लेकिन व्यंग्य की सारी सीमाओं के साथ। समय की क्रूरताओं को देखते हुए यह मूर्तिभंजक मुद्रा आवश्यक तो थी लेकिन व्यंग्य केवल व्यंग्य, आखिर कब तक ?

कविता का काम केवल दीवारों पर चढ़े पर्दों को फाड़ देने तक ही नही है। यदि पारिभाषिक शब्दावली मे कहें तो साहित्य जीवन की व्याख्या है, जीवन की अभिव्यक्ति है तो उसमे हमें जीवन से जोड़ने की सामर्थ्य भी है। लेकिन व्यंग्य के मूल मे अस्वीकार का जो भाव है वह जीवन की विसंगतियों का पर्दाफाश तो हमारे समक्ष कर देता है, लेकिन जीवन से जोड नहीं पाता; हमें उसमें सम्मिलित नही करा पाते। फ्रांस की कविता पर भी यही आरोप लगाया जाता है कि उसमें एक अस्पष्टता है तथा पर्दों को फाड़ने की प्रवृति है इसलिए उसमें जीवन का स्वीकार पूरी तरह नहीं है। यही प्रवृति हिन्दी की समकालीन कविता में भी विशेष रूप से मुखर रही है।

ईलियट का उदाहरण भी हमारे सामने है। उसकी मुद्रा भी आक्रामक रही। उसने साहित्य की नयी परिभाषाएँ दीं। उसने पुराने साहित्य का आकलन एक नये दृष्टिकोण से किया। ईलियट की नयी दृष्टि ने एक बार तो विश्व के साहित्यकारों को चकाचौंध कर दिया। लेकिन जब आलोचकों ने ईलियट का पुनर्मूल्यांकन करना प्रारम्भ किया तो एक आलोचक ने तो यहां तक कहा कि डब्ल्यू. बी. ईट्स. को फिर भी आगे आने वाली पीढ़ियां याद कर सकती हैं लेकिन ईलियट की कविता केवल हमारे वक्त की कविता है, हर वक्त की कविता नहीं। सच्चे साहित्य के लिए हर वक्त का साहित्य होना आवश्यक शर्त है, जबकि व्यंग्य में वर्तमान में जीने की क्षमता होती है।

पोप का युग, अतिबौद्धिकता का युग है तथा इस युग के साहित्य का प्रमुख स्वर व्यंग्य है। इस युग का साहित्य व्यंग्य की दृष्टि से अंग्रेजी साहित्य की उपलब्धि है। इसके पूर्व शेक्सपीयर का युग है और इसके बाद मे रूमानी युग। हम पाठक—साधारण ही नही बुद्धिजीवी—किस युग के साहित्य को अपने जीवन के प्रश्नो के अधिक निकट पाते हैं? शेक्सपीयर की त्रासदियों हमें अपने निकट अधिक लगती हैं। रूमानी साहित्य की तीखी आलोचना हुई है।

लेकिन उसमे एक प्रतिरोध शक्ति है जो उसे जीवन्त बनाये हुए है और हर युग के पाठक को आकृष्ट करती है। शेक्सपीयर की त्रासदियों तथा रूमानी काव्य में जो सार्वजनीनता है वह पोप-युग के व्यंग्य साहित्य मे नही है। इसीलिए पोप युग का साहित्य शेक्सपीयर की त्रासदियों की तुलना मे हर वक्त का साहित्य नहीं है।

इसी तरह हम यह कह सकते हैं कि हिन्दी की आधुनिक कविता, जिसमें व्यंग्य का स्वर प्रमुख है केवल हमारे जमाने की कविता है, हर वक्त की कविता नही है। व्यंग्य ने कविता को उस धरातल पर लाकर खड़ा कर दिया है, जहां से वह जीवन की क्रूरताओं पर चोट तो कर सकती है लेकिन उसको वह शक्ति नही मिल सकती जो जीवन की चोट सहने में आदमी की मदद कर सके। जैसे मार्क्सवादी

विचारधारा के कवियों की सारी शक्ति का उपयोग शब्दों की टटोल में हुआ जिनके द्वारा वे पूंजीवादी व बुर्जुआ वर्ग की तीखी आलोचना कर सकते थे। उसी प्रकार आज के कवि की दृष्टि वर्तमान की क्रूरताओं को व्यंग्य से उघाड़ने पर आ कर टिक गयी है। इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि व्यंग्य ने कविता को नये मुहावरे की ताकत दी है जिसके द्वारा जीवन के कठोर तथा खुरदुरे यथार्थ को उघाड़ा जा सकता है। लेकिन इस कठोर यथार्थ के पार देखने की शक्ति उसमें नहीं है।

वर्तमान हिन्दी कविता के व्यंग्य के मूल में अतीत का अस्वीकार भी है। लेकिन केवल अतीत के अस्वीकार से वर्तमान की निर्मिति नहीं हो जाती। अतीत के अस्वीकार के साथ वर्तमान तथा भविष्य के लिए नए जीवन मूल्यों की खोज भी आवश्यक है जिसकी तह तक व्यंग्य नहीं पहुँच पाता। इस स्थिति में कवि स्वीकार करता है :

एक दिन यह
पाने की विफलता
और न पाने का दुःख
एक हो जाते हैं

अनेक कवि मूल्यहीनता के संसार तथा मूल्यहीनता के कारणों को केवल एक व्यंग्य के माध्यम से परिभाषित करना चाहते हैं। लेकिन इससे मूल्यों की खोज की यात्रा प्रारम्भ नहीं होती। और जब कविता में नये जीवन-मूल्यों की खोज की बात उठती है, तो हमारी दृष्टि अनायास ही, 'असाध्यवीणा', 'अंधा युग', 'आत्मजयी', 'संशय की रात', 'कनुप्रिया' जैसी रचनाओं पर जाती है क्योंकि ये रचनाएं हमारे वक्त की ही नहीं, हर वक्त की रचनाएं हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि वही रचना हर युग की रचना बन सकती है जिसमें व्यापक जीवन के प्रश्नों से साक्षात् करने की ताकत होती है। मैं मानता हूँ कि अज्ञेय की 'सांप' कविता से लेकर रघुवीर सहाय की 'पुलिस रपट' या रामदरश मिश्र की 'दवा की तलाश' तक हिन्दी में बहुत अच्छी व्यंग्य कविताएँ सामने आयी हैं लेकिन व्यंग्य की सारी सीमाओं के साथ। समय की क्रूरताओं को देखते हुए यह मूर्तिभंजक मुद्रा आवश्यक तो थी लेकिन व्यंग्य केवल व्यंग्य, आखिर कब तक?

हिन्दी की समकालीन कहानी : भावुकता से मुक्ति का सवाल

"तो मुझे भी प्राणदण्ड मिले" कहती हुई वह (मधूलिका) बन्दी अरुण के पास जा खड़ी हुई।" यह अन्त है प्रसाद की कहानी 'पुरस्कार' का। मधूलिका का यह वाक्य पाठकों के मन में एक अजीब सी करुणा प्रवाहित कर देता है और पाठक की भावुकता मधूलिका के प्रेमादर्श में रल-मिल जाती है। चाहे कौशिकजी की 'ताई' हो, चाहे प्रेमचन्द की 'बड़े घर की बेटी' या 'पंच परमेश्वर' अथवा गुलेरी की 'उसने कहा था'—सबकी परिणति एक भावुकतापूर्ण आदर्श मे होती है जो पाठक के मन की करुणा को विगलित करती हुई उसे एक सामाजिक-आदर्श में ढाल देती है। ये सभी अच्छी कहानियां हैं, लोकप्रिय कहानियां हैं तथा इनके कथाकारों ने या इनकी—पीढ़ी के कथाकारो ने अपनी कथाओं मे भावुकता की धाराएँ प्रवाहित की हैं। चाहे रामकथा हो चाहे पुराने कथाकारों की कहानियां—भावुकता उनका एक अपरिहार्य अंग है। पुराने लेखक के पास भावुकता एक अस्त्र था जिसके प्रयोग से वह कहानी के पात्रों व उसकी घटनाओं के साथ पाठक के हृदय का तादात्म्य स्थापित कर उसे साधारणीकरण की स्थिति तक पहुंचा देता था। इसलिए पुरानी पीढ़ी के लेखकों को अपनी कहानियों में जानबूझकर घटनाओं मे नाटकीयता, भाषा में भावुकता तथा अन्त मे पाठक को भिगो देने वाली एक स्थिति पड़ती थी भावुकता उनकी आवश्यक नियति थी।

1955-56 के आस-पास हिन्दी-कहानी में एक स्पष्ट दिखने वाला मोड़ आया तथा 'मलवे का मालिक', 'चीफ की दावत', 'दोपहर का भोजन', 'राजा निरबसिया', 'जहां लक्ष्मी कैद है' जैसी कहानियो के साथ हिन्दी-कहानी ने यथार्थ के नये दायरों की यात्रा शुरू की। इसी शुरुआत के साथ कथाकार सामाजिक जीवन के वाह्यआदर्शों में भटकने के बजाय सामाजिक जीवन के बदलाव तथा व्यक्ति के

अन्तरंग जीवन की विसंगतियों की खोज में लग गया और उसने पुरानी कहानी के सामने एक प्रश्न चिन्ह लगाया। इसका कारण यह भी था कि इस पीढ़ी का कथाकार मूल्यों के संक्रमण को झेलते समाज में अपने आपको पा रहा था। हर स्तर पर बदलते समाज और व्यक्ति के प्रति उसकी प्रतिबद्धता स्वाभाविक थी। निःसंदेह इस रेखा से हिन्दी कहानी का एक नया आयाम प्रारम्भ हुआ तथा सामाजिक मूल्यों के विघटन की स्थितियों से व्युत्पन्न विसंगतियों का चित्रण कहानियों में होने लगा। लेकिन ये सभी कथाकार ऐसे थे जो पूरे साहस के साथ परम्परागत मूल्यों को अस्वीकार नही कर सके और पुराने मूल्यों के प्रति एक अजीब सा आग्रह बना रहा भले ही उसने परम्परा से अपने आपको काटने की बात कही थी। किन्तु मझली पीढ़ी का यह कथाकार भावुकता के अस्त्र को अपने हाथ से न फेंक सका। इसलिए इन लोगों ने नये जीवन के यथार्थ की खोज तो प्रारम्भ की लेकिन इनकी एप्रोच भावुकता पूर्ण ही रही अर्थात धर्मवीर भारती, अमरकान्त, भीष्म साहनी, कमलेश्वर, मोहन राकेश, राजेन्द्र यादव, मार्कण्डेय आदि नये कथाकार ऐसी कहानियां न दे सके जो भावुकता के दायरे को तोड़कर अपना रूप निखारतीं। इसका कारण यह भी हो सकता है कि इन सभी कथाकारों ने स्वतन्त्रता पूर्व के आदर्शों से बंधे समाज को भी देखा था तथा इनकी जड़ें कही न कही प्रेमचन्द तथा प्रसाद युगीन संवेदनाओं से पोषित थीं।

यह बात नही कि इन कथाकारों को इस कमजोर अस्त्र की सीमाओं का ज्ञान नही था। नयी कहानी ग्रुप ने अज्ञेय-जैनेन्द्र पीढी की भावुकता की खूब खिल्ली उड़ायी। लेकिन राजेन्द्र यादव ने, यह लिखने के बावजूद 'कि भावुकता एक ऐसी रूढ़ि है, जिसके सहारे लेखक अपनी प्रतिभा के कच्चेपन, उथलेपन और बासीपन को छिपा लेता है और कथा स्थितियों के बासीपन से बच निकलता है', (कहानी : स्वरूप और संवेदना, पृ. 220) 'प्रतीक्षा', 'मंत्र विद्ध', 'टूटना' जैसी भावुकतापूर्ण कहानियां लिखी। मोहन राकेश की संवेदना आधुनिकता को पकड़ने में अधिक सक्षम है फिर भी या तो उन्होने 'एक और जिन्दगी' 'मिसपाल' जैसी भावुकता से सनी कहानियां दी या आधुनिकता के नाम पर 'सेफ्टी पिन' जैसी महज चौका सकने वाली कहानियां, जिनका जीवन के कठोर यथार्थ से कम सम्बन्ध था। कमलेश्वर की संवेदना आज भी इतनी भावुक है कि 'नीली झील', 'राजा निरबंसिया' के बाद 'या फिर और' जैसी कहानी सामने आती है। हां कभी-कभी वे 'फैसला' या 'उस रात वह मुझे कैण्डी पर मिली थी ··· ···' जैसी इनकी और दुरुह कहानिया भी दे जाते हैं, वह शायद इसलिए कि नये कथाकारों की दौड़ में कही पीछे न रह जाएं। रेणु की 'तीसरी कसम', भारती की 'गुल की बन्नो' या 'बन्द गली का आखिरी मकान'—सब भावुकता से भरी कहानियां है।

इसका मतलब यही है कि मझली पीढ़ी के कथाकार के पास परिवर्तित जीवन की क्रूरताओं को अभिव्यक्त कर सकने की तटस्थ दृष्टि नहीं है। इसीलिए 'परिमल' की एक गोष्ठी मे विजयदेव नारायण साही ने कहा था, "आज की कहानी मुख्यतः रूमानियत और भावुकता से दूर नहीं हट पाई है। इसका कारण कहानीकारों मे उस बौद्धिक आत्म चेतना का अभाव है जो जीवन से सच्चे रूप में तटस्थ होकर टक्कर लेने या चित्रित करने की क्षमता रखती है।''''' वास्तव मे 'पर्दाफाश' और 'भावुकता' से ऊपर उठकर हिन्दी कहानी अभी तक व्यापक जीवन की ट्रेजडी तक नही पहुंच सकी है। आज की कहानी जैसे एक विशाल प्रतीक्षा की कहानी है। संवेदनात्मक स्तर पर ये कहानियां एक विशेष सांस्कृतिक ठहराव को व्यक्त करती हैं और इस ठहराव को व्यक्त करने वाला मन कातर है।" (धर्मयुग, 26 अप्रैल 1964) साही के इस कथन की पुष्टि कमलेश्वर की "दिल्ली में एक मौत" कहानी से हो सकती है। यह कमलेश्वर की एक बहुचर्चित कहानी है जो महानगर मे रहने वाले लोगो के मौत के प्रति बदले दृष्टिकोण को बड़ी खूबी के साथ उतारती है। महानगर मे रहने वाले व्यक्ति के व्यस्त जीवन की दिनचर्या में किसी व्यक्ति की मौत विशेष अन्तर नही डालती। व्यक्ति सामान्य और सहज ढंग से अन्य कार्यों को करता हुआ शवयात्रा मे भी सम्मिलित हो लेता है। निश्चित ही लेखक सहजता से जीवन की व्यापक ट्रेजडी को स्वीकार करता है लेकिन इसी कहानी का मुख्य पात्र (लेखक स्वयं) इस दृश्य को अजीब दृष्टि से देखता है तथा उसे मनुष्य के बदलाव पर आश्चर्य होने लगता है और उसकी सहानुभूति शवयात्रा में सम्मिलित होने वाले लोगों के प्रति नही रहती। क्यों ? क्योंकि कथाकार का कातर मन इस व्यापक ट्रेजडी को एक सास्कृतिक ठहराव की स्थिति तक ही ग्रहण कर सका है। इसलिए वह इस भावुकता से मुक्ति पाने में असमर्थ रहा है। यह मैं नही कहता कि मझली-पीढ़ी का कथाकार जीवन की क्रूर-जटिलताओं तथा विसंगतियो को देख नही पाया है लेकिन इनकी अभिव्यक्ति मे उसकी संवेदना भावुकता से मण्डित होकर ही सामने आई है और भावुकता की दिक्कत यह है कि "भावुक लेखक किसी घटना से इतना व्यथित और उस व्यथा से इतना अवसन्न रहता है कि उसमें उस व्यथा के आधार की निश्चित प्रकृति पर विचार करने की क्षमता नही बचती। '' ''''इसके कारण (भावुकता के) कहानी में जीवन की वास्तविकता का चित्रण ही कम नही होता, वल्कि कहानी के रचना विधान में भी या तो निर्जीव सपाटता आती है अथवा निरर्थक एवं कृत्रिम जटिलता।" (डॉ. नामवरसिंह, कहानी : नयी कहानी, पृ. 187-188) मझली-पीढी का कथाकार भावुकता की इस पकड़ से मुक्त न हो सका और सहज ही उनकी कहानिया प्रेमचन्द, प्रसाद से थोड़ा ही आगे जा सकी। जो तटस्थता हमे प्रेमचन्द की 'कफन', 'पूस की रात', अज्ञेय की 'रोज' तथा अमरकान्त की 'जिन्दगी और जोंक' देखने को मिलती है वह कमलेश्वर की 'खोयी हुई दिशाएँ', राजेन्द्र यादव की प्रतीक्षा मोहन राकेश की 'मिस पाल' मे नही मिलती।

लेकिन कथाकार को समाज में सामाजिक एवं व्यक्तिगत स्तर पर होने वाले संक्रान्ति और संक्रमण की तेज गति को अभिव्यक्ति देने की आवश्यकता पड़ी और निश्चय ही भावुकता का अस्त्र इस सारे संक्रमण को अभिव्यक्त करने के लिए बेकार था। कथाकार की दृष्टि में एक तल्ख-तटस्थता इसलिए भी जरूरी हो गयी क्योंकि व्यक्तिगत स्तर पर व्यक्ति का परम्परागत मन पूरी तरह बिखर गया था। दूधनाथ-सिंह की 'रक्तपात' कहानी के ये वाक्य आज के व्यक्ति के बिखराव का सही परिचय देते हैं, '.......सारा रक्तपात भीतर ही हो रहा है और खून कहीं एकत्र होता है बहता नहीं। '....उसे लगा कि अब वह मनुष्य नहीं है। सत्कर्म, सेवा या दुष्कर्म, पाप सब समान हैं। जिसके लिए होंगे, उसके लिए होंगे। लोगों की दृष्टि में तो सभी कुछ है लेकिन उसके लिए ? ....सच है सब ज्यों का त्यों है, लेकिन मानवीय इच्छाओं का, उसका अपना संसार कहीं अंधेरे में छिप गया है।' इस आदमी का चित्रण करने के लिये जिसके सम्बन्धों में इस कदर क्रूरता समा गयी थी, भावुकता का सहारा लेना बेकार था। इसके लिए तो अभिव्यक्ति में उस प्रकार की आडम्बर-हीनता, सहजता तथा संकोचहीनता की आवश्यकता थी जो दूधनाथसिंह की 'रक्तपात' कहानी में है तथा यहीं से हिन्दी कहानी का नया आयाम प्रारम्भ होता है जहां नयी पीढ़ी का कथाकार परम्परागत भावुकता से मुक्ति पाकर अपने समकालीन आदमी के आन्तरिक संघर्ष और बाहरी सम्बन्धों की क्रूरता से सीधे टकराता है। उन्हें समझता है और अभिव्यक्त करता है। उसके मन में पुराने—मां-पिता-भाई—जैसे परम्परागत रिश्तों के प्रति अतिरिक्त या आरोपित सम्मान नहीं है। वह 'आदमी' को—केवल आदमी के बदलते रूप को तटस्थ होकर देखता है। ज्ञान रंजन का 'पिता' कहानी का बाप परम्परागत पिता नहीं है जो बदलाव को लेकर बेचैन हो। वह जमाने के साथ न बदलता हुआ इन्सान है जिसके प्रति रिश्तों की जंजीरें किसी के गले में नहीं पड़ी है। इस संदर्भ में डॉ. गंगाप्रसाद विमल का यह कहना बहुत उचित प्रतीत होता है, '60 के बाद की हिन्दी कहानी मानव-विश्वास की आदर्श कहानी नहीं है अपितु वह मनुष्य के भीषण संकट-बोध की यथार्थ-प्रतीति की कहानी है मानव-पीड़न को इसलिए व्यक्त नहीं करती कि वह कोई प्रदर्शनीय प्रसंग है अपितु वह यथार्थ बोध है।" (धर्मयुग, 26 मार्च, 1966) और आज का कथाकार इस पीड़न से भयाक्रांत नहीं होता, घबराकर भूतकाल में शरण नहीं लेता, थोथे भावुक आदर्शों से मन बहलाने का प्रयत्न नहीं करता प्रत्युत इस कठोर यथार्थ से सीधे टकराता है। अभिव्यक्ति के स्तर पर टकराने की सामर्थ्य उसमें है क्योंकि भावुकता जैसे अस्त्र से इस स्थिति से बच निकलने का उसका इरादा कतई नहीं है। उसके पास उसकी रचनाशीलता है जिसमें सम्बन्धों के निर्मम परिवर्तनों को पकड़ने की शक्ति है। इसीलिए आज की हिन्दी कहानी सहज और जीवन के अधिक निकट लगती है।

यहां एक प्रश्न उठ सकता है कि कथाकार के लिए किसी के प्रति भी सहानुभूति रखने की आवश्यकता नहीं है ? वह अपने ट्रीटमेंट मे असम्पृक्त तो अवश्य है लेकिन रचनाकार अपनी रचना से बिलकुल अलग कभी नही हो सकता। लेकिन इतना भी निश्चय है कि आज का कथाकार अपनी कहानी को किन्ही आदर्शों के हाथो मे सौंपकर उसे कृत्रिम बनाने का खतरा मोल नही ले सकता। उसकी सहानुभूति होगी, उसकी अपनी पीढ़ी के प्रति, अपने पात्रों के जीवन-संघर्ष के प्रति और नये मूल्यों के स्वीकार के प्रति। लेकिन इस सहानुभूति मे कोई भावुकतापूर्ण आग्रह का भाव नही होगा।

अमरकान्त की एक प्रसिद्ध कहानी है, 'असमर्थ हिलता हाथ'। इस कहानी मे मा अपनी पुत्री के प्रेम सम्बन्धो को लेकर दु:खी है। वह पुत्री को फटकारती है और इस प्रेम प्रसग को छोड़ देने की आज्ञा देती है। लेकिन इसी बीच वह अपने आपको अपराधी-सी महसूस करने लगती है क्योंकि उसकी स्वयं की जवानी के प्रेम प्रसंगो की घटनाएँ उसके मानस को उद्वेलित करने लगती है। वह स्वय से पूछती है कि उसकी पुत्री क्या गलत कर रही है ? वह उसे प्रेम करते से क्यों रोकती है ? जब वह प्रेम कर सकती तो उसकी पुत्री को भी ऐसा करने का अधिकार है। उसकी इच्छा होती है कि वह अपनी पुत्री को अपना इतिहास बताते हुए प्रेम करने की छूट दे दे लेकिन इच्छापूर्ति से पूर्व ही वह मर जाती है और वह अपनी पुत्री से जो कहना चाहती थी नही कह पाती। यह कहानी मा की इसी व्यथा से भीगी हुई है। मा की मृत्यु दिखाकर लेखक ने मां की परम्परागत इमेज को बचा लिया है और पुत्री है कि मा का विरोध कर ही नहीं पाती, मा के प्रति उसके मन मे एक भावुकतापूर्ण सम्मान का भाव है। सारी स्थिति में लेखक का कातर मन परिवर्तन के व्यापक रूप को सामने नही आने देता। अब एक दूसरी कहानी लीजिए—ज्ञानरंजन की 'कलह'। इस कहानी की पुत्री अपने मां-बाप के बीच कलह का कारण समझती है। पिता किसी अन्य स्त्री से सम्बन्ध रखते हैं। वे उस स्त्री को घर के गेस्ट हाऊस मे अपने साथ लाना चाहते है। पर मां नहीं चाहती कि ऐसा हो क्योकि उसकी पुत्री स्वाति पर इसका बुरा असर पड़ेगा। लेकिन स्वाति सब कुछ समझती है। उसके मन मे इस स्थिति के प्रति न घृणा है न क्रोध। उसके मन मे अपने मां-बाप के प्रति लिजलिजी श्रद्धा भी नही है। उसे आश्चर्य होता है कि मा रात को पिता से लड़ती है लेकिन दिन मे सब कुछ ठीक ढंग से चलता है। वह इस सारी स्थिति को सहज रूप में स्वीकार कर लेती है। यही नही, उसे अपनी मां की दकियानूसी पर दया आती है, "स्वाति सोचने लगी अगर उन बातों को जान लेना ही किसी युवा लड़की की बरबादी है जिन्हें मां-बाप चुराना चाहें तो मैं तो कभी की बरबाद हो गयी।" ये शब्द उसके किसी मूल्य के प्रति पूर्ण अस्वीकार का भाव प्रकट करते हैं। कहानी जीवन की ट्रेजिडी को गहराई से उतारती है। सम्बन्धों की इसी व्यापक

ट्रेजिडी को ज्ञानरंजन की 'सम्बन्ध' कहानी में भी अभिव्यक्ति मिली है। जितेन्द्र भाटिया की 'जला हुआ आकाश' (कल्पना, जून 1968) कहानी में भी पारिवारिक जीवन के सम्बन्धों की यही निस्संगता है और सम्बन्धों के साधारण अनुभवों की सगति का अच्छा चित्रण हुआ है।

वस्तुतः आज के बदलते परिप्रेक्ष्य में अकेलापन, अजनबीपन, आत्म निर्वासन, अस्तित्व संकट मात्र नारे बाजी के शब्द नहीं है प्रत्युत जीवन की अनिवार्य परिणतियां है। इस सभी का सहज स्वीकार—पूरी तटस्थता के साथ—आज के कथाकार की नियति है। इस स्वीकृति में भूत के प्रति लिजलिजी भावुकता का आग्रह नही है, वर्तमान की क्रूरताओं को लेकर मात्र रोना धोना भी नही है। इसलिए वह अपनी कहानियो में भय, विस्मय, जिज्ञासा, कौतूहल जैसे तत्वों की समाविष्टि के प्रति चिंतित नहीं है (ये सभी भावुकता अंग है)। इसी तटस्थ दृष्टि को लेकर दूधनाथ सिंह, ज्ञानरंजन, काशीनाथसिंह, अशोक सेकसरिया, जितेन्द्र भाटिया, सिद्धेश आदि कथाकार आज की कहानिया लिख रहे हैं। ये कथाकार मझली पीढ़ी से आगे निकल गये हैं क्योंकि मझली पीढी के अस्त्र आज बेकार हो चुके हैं। भावुकता से पगी हुई अनेक कहानियां आज की व्यावसायिक पत्रिकाओ में छपती हैं, लोग उन्हें पढते हैं और (शायद) पसंद भी कर लेते हैं लेकिन समय की शिला पर वे कोई चिन्ह अंकित नही कर सकती क्योंकि जीवन की व्यापक ट्रेजिडी से टकरा सकने की उनमें क्षमता नहीं है। खैर, इस वर्ग की कहानियां आज की प्रतिनिधि कहानिया ही नही है अतः वे बस छपती भर हैं।

जीवन के सवालों में निरुत्तर कहानियाँ

इधर कथा-समीक्षा को लेकर कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये गये है। इसमें तो सन्देह नहीं कि हिन्दी में कथा-समीक्षा के नाम पर या तो 'सम्बन्ध-समीक्षा' को प्रश्रय मिला है या फिर समीक्षा दुहराने की प्रवृति का शिकार रही है। विभिन्न कहानियो के सम्बन्ध में वही 'अनुभूति की प्रामाणिकता' 'खीज, घुटन, उबासी की अभिव्यक्ति', 'भोगा हुआ यथार्थ' आदि शब्दों की चिप्पियां काफी पुरानी एवं आरोपित-सी लगने लगी हैं। यों हिन्दी के कुछ समृद्ध कहानीकार (नये) यह भी मानते हैं कि हिन्दी मे कथा-समीक्षा है ही नही, इसलिए अपने गुट के कथाकारों की कहानियों को मूल्यांकित करने का भार वे अपने ही कंधों पर ढोते रहे हैं।

कथा-समीक्षा में अराजकता एवं ठहराव लाने का श्रेय कथा-समीक्षको की पक्षधरता को है, अथवा कहानीकारों द्वारा भी 'कथा-समीक्षा मे जम कर हिस्सा लेने को', इसका निर्णय तो मैं नही कर सकता। पर दोष क्या अकेले समीक्षक का ही है ? यह भी विचारणीय प्रश्न है। यह तो नही कहा जा सकता कि नयी से नयी कहानियो को समझ सकने वाली प्रतिभाएं हिन्दी में नही हैं। यह मानना भी गलत होगा कि हिन्दी कहानी के सारे बदलाव को समीक्षको ने समझने की चेष्टा नही की है (मैं समीक्षकों के बचाव की वकालत नही कर रहा हूं), किन्तु जब कहानियों मे ही दुहराव के अतिरिक्त कुछ नही मिल पाता तो समीक्षक के पास भी कहानियों के सम्बन्ध मे प्रचलित चिप्पियां चिपकने के अतिरिक्त कोई चारा नहीं रह जाता।

अतः पहले कहानी पर विचार करें। लम्बे अरसे से हिन्दी कहानी में मानव सम्बन्धों में आये परिवर्तनों की समाविष्टि की बात उठायी जाती रही है। किन्तु मानव-सम्बन्धों में परिवर्तन तो सभी दिशाओं मे हुए हैं—केवल स्त्री-पुरुष सम्बन्धों में ही नही, राजनीति, उद्योग, व्यवसाय, शिक्षा, कृषि आदि सभी क्षेत्रों मे व्यापक परिवर्तन आये हैं। पर हिन्दी-कहानी ने स्त्री-पुरुष सम्बन्धो के दायरे से निकल कर कितनी दूरी तक अन्य क्षेत्रों में यात्राएं की हैं ? इस दृष्टि से हिन्दी-कहानी तथा हिन्दी-फिल्म की स्थितियों में विशेष अन्तर नहीं है। जैसे हिन्दी-फिल्म में विश्व-शांति की समस्या भी नायक-नायिका प्रेम-भरे गीतों मे फंस कर रह जाती है वैसे ही हिन्दी

कहानी में मानव-सम्बन्धों में आये सारे परिवर्तन स्त्री-पुरुष सम्बन्धों (विशेष रूप से यौन सम्बन्धों) पर आकर रुक जाते हैं। इसीलिए आज भी नयी कहानी के पक्षधर (समीक्षक तथा कहानीकार), नयी-कहानी की चर्चाओं में 'चीफ की दावत', 'मलबे का मालिक' आदि कहानियों को विशेष रूप से याद करते हैं। क्योंकि ऐसी ही प्रारम्भिक कहानियों में मानव सम्बन्धों में आये परिवर्तनों को व्यापक धरातल दिया गया था। पर बाद में कहानीकार स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों में घुसते चले गये और समस्त नया-भाव-बोध, युग-बोध स्त्री-पुरुष, की इकाइयों में ही समाता चला गया। समीक्षक तथा पाठक कब तक स्त्री-पुरुष के (यौन) सम्बन्धों की कहानियां ही पढ़ते रहें और उनकी चर्चा करते रहें।

किन्तु दिक्कत यह है कि स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के आगे भी जीवन का परिवर्तन बहुत व्यापक है और गहरा है (यह बात अलग है कि मोहन राकेश जैसे कथाकार सारे परिवर्तन की जड़ स्त्री-पुरुष संबंधों को ही मानते हैं) जिसे कथाकार ने अपेक्षित करने की भरसक कोशिश की है इसका अर्थ यह हुआ कि हिन्दी का कथाकार जीवन तथा उसकी परिस्थितियों के अधिक निकट नहीं है। युद्ध को लेकर लिखी गई दुर्बल कहानियों से यह बात सिद्ध हो ही चुकी है। शायद कहानीकार के समक्ष जीवन को समझने और उसे चित्रित करने का प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि अपने आपको कायम रखने का। इसलिए वह जानबूझ कर स्त्री-पुरुष सम्बन्धों को घसीटता आ रहा है।

स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों (यौन सम्बन्धों) को कथाकारों ने इतना अधिक महत्व दिया कि उनमें इस बात की होड़ लग गयी कि कौन अपनी कहानियों में यौन-क्रियाओं का अधिक और विचित्र चित्रण करे। मैं साहित्य में सैक्स की अभिव्यक्ति का विरोधी नहीं हूं। अन्य प्रवृत्तियों की तरह 'सैक्स' भी साहित्य-सृजन की एक प्रेरक शक्ति है पर यौन-भावना तथा यौन-क्रिया में अन्तर तो है ही। 'ऐयाश-प्रेतों' के समान कथाओं के पात्र यौन-क्रिया-रत है तथा स्खलित हैं, नपुंसकता की सीमा तक 'देह की राजनीति' को ढोना ही इन पात्रों की नियति बन गया है तिस पर भी तुर्रा 'भोगे हुए यथार्थ' का है।

आज के कथाकार (चाहे वह महेन्द्र भल्ला हों, चाहे पानू खोलिया, चाहे सिद्धेश) भोगे हुए यथार्थ की ही कहानियां लिखते हैं। किन्तु कथाओं में चित्रित कथ्य भोगे हुए यथार्थ से बहुत दूर होता है। एक कहानी में एक पात्र अपने पिता की जलती चिता को छोड़कर श्मशान में ही झाडी के पीछे सम्भोग में रत हो जाता है। इसे कैसे भोगा हुआ यथार्थ कहें ? वस्तुतः कहानियों में चित्रित अधिकांश स्थितियां भोगी हुई न होकर सोची हुई होती हैं। वास्तविक जीवन की उपज न होकर कथाकार की कल्पना से प्रसूत होती है। इसीलिये ये कहानियां जीवन के यथार्थ से

कटती जा रही हैं। इन कहानियो के सन्दर्भ में जीवन की जटिलताओं से जूझने की बात करना समीक्षक के कर्त्तव्य का निर्वाह मात्र है।

यह विडम्बना ही है कि सामने आ रही कथाओ मे या तो सोची हुई स्थितियां है या भोगी हुई सस्ती भावुकता एक ही लेखक जब नये मानव सम्बन्धों को व्यक्त करने वाली कहानी देता है 'एक और जिन्दगी' जैसी आंसू-भरी कहानी सामने आती है और जब वह अधिक आधुनिक बनता है तो 'सेफ्टी पिन' लिखकर पाठकों को चौंकाता है। शायद लेखक पाठकों को चौंकाने की बात अधिक सोचने लगा है। सोची हुई स्थितियों को लेखक ऐसे प्रतीकों में ढालता है कि जो कहानी सामने आती है उसका कथ्य समझना कठिन हो जाता है। आज का कथाकार कुछ शब्दों को जीवन पर चस्पां करता है और उन्ही शब्दों को अपनी कथाओं का कथ्य बना लेता है। अजनबीपन, संत्रास, कुंठा, घुटन आदि ऐसे ही सुविधाजनक शब्द है जो कथाकार के मस्तिष्क मे कहानियो के लिए विचित्र स्थितियों को जन्म देते हैं। वह इनमें से किसी एक शब्द को लेता है और उसी पर विभिन्न कोणों से पात्र तथा स्थितिया गढता है। अजनबीपन को लेकर रविन्द्रकालिया आदि कथाकारों ने विचित्र कहानियां लिखी है। लेखक जब सायास स्थितियां निर्मित करता है तो कहानियों का अजनबीपन जीवन के अजनबीपन से बहुत दूर चला जाता है। ऐसा लगता है कि कथाओ के पात्र जीवन के अजनबीपन भोग नही रहे है, प्रत्युत लेखक द्वारा आरोपित अजनबीपन के नीचे दबे हुए हैं।

फिर आज का जीवन इन्ही तत्वों की निर्मिति मात्र ही तो नही है। माना, जीवन में यह सब कुछ है पर एक दुखी व्यक्ति का भी हर पल संत्रास मे नही बीतता पर कथाओं की स्थिति यह है कि एक ही कथाकार की अनेक कहानियों मे पात्र केवल एक ही है लेखक उसी का उपयोग संत्रास की विभिन्न स्थितियो में कर रहा है। इसीलिए न तो ये स्थितियां यथार्थ जीवन की लगती हैं और न इनके पात्र ही विश्वसनीय दिखते हैं। कथाकार तो यह सोचने लगा है कि पाठकों को जितना अधिक चौंकाया जाएगा, लोकप्रियता उतनी ही अधिक मिलेगी। अत' वह जीवन के निकट आने की उतनी कोशिश में नही है जितनी जीवन को विचित्र रूपो में चित्रित करने में। यही कारण है कि अधिकाश कहानियां 'अभ्यस्त' क्या 'विकेकीपाठक' के गले से भी नही उतर पातीं।

कहानी में तटस्थता का प्रश्न भी बार-बार उठाया जाता रहा है। किसी स्थिति का सहज तथा तटस्थ चित्रण तभी सम्भव है जब लेखक उसे भोग कर भी लिखते समय अपने आपको उससे असम्बद्ध कर ले। यद्यपि यह पढ़ने को तो मिलता है कि अमुक कहानी में 'तटस्थ तल्खी' है पर ऐसी कहानियां बहुत कम हैं। सारे नये परिवर्तन के प्रति अधिकाश लेखकों का दृष्टिकोण आक्रोशपूर्ण प्रतीत होता है इसलिए कहानी में सहज तटस्थता नही आ पाती। 'दिल्ली में एक मौत' कहानी महानगर में

रहने वाले लोगो के मृत्यु के प्रति दृष्टिकोण का बड़ी कुशलता से चित्रण करती है। शव यात्रा मे शामिल होना व्यस्त व्यक्ति की दिनचर्या के क्रम मे कोई अन्तर नही डालता, अत्यन्त सहज स्थिति है। इस दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण कहानी है। पर जब कहानी का नायक शवयात्रा वाले दृश्य के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त करता है तो कहानी असहज लगने लगती है। शायद लेखक बदली हुई स्थिति से अपने आपको असम्बद्ध नही रख सका और नायक के बहाने वह स्वयं ही उसमें शामिल हो गया। यह इस बदलाव के प्रति तटस्थ कहां है ?

और जब लेखक तटस्थ नहीं रह पाता तो भावुकता उभरने लगती है। यदि आज भी भावुकता कहानी का एक अपरिहार्य तत्व है तो 'प्रतीक्षा' कहानी 'मधुआ' से किस प्रकार आगे है ? दो नये उदाहरण लीजिए—सद्यः प्रकाशित कमलेश्वर की' ·····'या फिर और' तथा मन्नू भण्डारी की 'दरार भरने की दरार' कहानियां भावुकता से भीगी हुई हैं। पुरानी कहानी के पतन के जो कारण कभी कमलेश्वर खोजा करते थे वे स्वयं उन्हें ही दुहराने लगे हैं। '···या फिर और' में क्या नया है ? यही कि बूढ़े की बुढापे मे मुहब्बत रंग लायी·········जैसे उसके दिन फिरे··· ···बोल सियावर रामचन्द्र की जय·········फिर 'वैतलवा डाल पर।'

शहरी एवं महानगरीय जीवन की कहानियां पढकर लगता है कि वहां का जीवन तो भय और संत्रास से घिरा हुआ है और यहां के रहने वाले विचित्र स्थितियों में जी रहे हैं। (इस भय और संत्रास में यौन सबसे प्रबल तत्व है)। ग्राम जीवन पर लिखी कहानियों में गांवों के साथ अजीब मजाक हुआ है। ग्राम कथाओं में या तो ठेठ-देहातीपन है या फिर वही रेणुई लच्छेदार भावुकता। कथाकार यही मानकर चलते हैं कि गांवों का जीवन अब भी उन्हीं पुराने संस्कारों मे घिरा है और ग्रामीण व्यक्ति अब भी 'हीरामनी' भोलेपन से निकल नही पाया है। कथाकार शायद भूल जाता है कि आज के गांव की जनता अनपढ अवश्य है पर अशिक्षित नहीं है। अब एक 'पंचलैट' वाले गांव न होकर बजते हुए ट्रांजिस्टरों वाले गांव हैं। पर कहां है वे कहानियां जिनमें राजनीति, विज्ञान के उपादानों आदि के परिणाम स्वरूप बदले हुए गावों का जीवन हो ? पर परेशानी तो यह है कि गांव के जीवन पर लिखने वाले कथाकार पर तो रेणु बनने का भूत सवार है। रेणु तो गांव के सारे परिवर्तन को देख भी रहे हैं और उनका अपना अलग अन्दाज है। अधिकांश कहानीकार अभी दशकों पीछे वाले गांवो मे जी रहे हैं।

इसमें सन्देह नही कि आज के जीवन के सवाल काफी जटिल और बदले हुए हैं। ये सवाल स्त्री-पुरुष सम्बन्धों तक ही सीमित नहीं है। प्रति वर्ष देश का कोई न कोई हिस्सा अकाल या बाढ़ग्रस्त हो जाता है। हर रोज घिराव और हड़तालों का

तनावपूर्ण [illegible] र गहरी हो गयी है कि [illegible] । प्रत्येक मन्त्रालय में, आफिस मे, उद्योग में, शिक्षण संस्था में, गांव में, राजनैतिक दल मे राजनीति अलग-अलग रूपो मे विद्यमान है । यह राजनीति 'देह की राजनीति' से अधिक गहरी और व्यापक है । यह तो मैंने एक उदाहरण दिया । मेरा लक्ष्य कथाओं के विषयों की तालिका प्रस्तुत करना भी नही है पर जीवन इतना संकुचित नहीं है कि सारे सवालों के जवाब स्त्री-पुरुष सम्बन्धों (यौन सम्बन्धो) में ही मिल जाएं । काश, आज का कहानीकार जीवन के इन सवालों के जवाब कहानी में खोजने का प्रयत्न करता ! कथा-समीक्षक अपने आप उन्हें समझने की चेष्टा करेगा ।

समकालीन हिन्दी कहानी : नायक प्रतिभा का विसर्जन

कहानी क्या किसी भी साहित्य रूप के संदर्भ में नायक-नायिका की चर्चा करना, बहस को काफी पीछे ले जाने का प्रयत्न करना है। इसका कारण यह है कि आज के रचनाकार के मन में न तो नायक की कोई परम्परागत या निर्धारित तस्वीर है और न किसी नायक-प्रतिभा को केन्द्र में रखकर कहानी लिखना उसके लिये सम्भव ही है। जब हम नायक की चर्चा करते हैं तो सहज ही हमारे सामने वे नैतिक-आदर्श या मूल्य आ जाते हैं जिनके संयोजन-संरक्षण के लिए किसी नायक प्रतिभा की अवतारणा होती है। प्रसाद की कहानियों में नायक (नायिका) की छवि स्पष्ट है। 'मधुआ' का शराबी भी नैतिक आदर्शों और मूल्यों से बंधा हुआ है। प्रेमचन्द की कहानियों मे भी नायक नायिका की प्रतिभा का विसर्जन उनकी अन्तिम दौर की कहानियों में होता है, जिनमें वे आदर्शवादी दृष्टि से मुक्त होकर यथार्थ की क्रूर जमीन पर आ जाते हैं। 'पंच परमेश्वर', 'बड़े घर की बेटी', 'नमक का दरोगा' आदि कहानियों के नायक-नायिका चरित्र उदात्त सामाजिक आदर्शों में लिपटे हैं किन्तु 'कफन', 'पूस की रात', 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि कहानियों के नायक आदर्श की केंचुल को त्याग देते हैं और 'कफन' कहानी मे तो व्यवस्था तथा समाज की क्रूर स्थितियों के कारण उत्पन्न पात्रों के अमानवीयकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। इस प्रकार नायक-नायिका की उदात्त तस्वीर तो प्रेमचन्द की कहानी यात्रा मे ही बिखरनी प्रारम्भ हो गयी थी।

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी मे मनोविश्लेषणात्मक कहानी का दौर आया। जैनेन्द्र, अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी आदि कथाकारों के लिये नायक-नायिका चरित्रों की स्थिति इसलिये बनी रही कि उनकी कहानियां चरित्र के मनः जगत की आन्तरिक यात्रा करती है। इस दौर के लेखकों ने एक दूसरे ही रूप में केन्द्रीय पात्र की सत्ता को स्वीकार किया। जैनेन्द्र ने तो विचार (तत्त्व) तथा वस्तु (कुछ भी) तक को मुख्य पात्र बनाने का प्रयास किया। किन्तु मुख्य पात्र का पूरी तरह विसर्जन करके

की 'रोज' कहानी में मिलता है। जिसमें बाहरी परिवेश के पात्र की मनः स्थिति पर पड़ने वाले तीखे आघातों का इतना विशद चित्रण है कि कहानी में पात्रों से ज्यादा प्रमुख उनके जीवन की एकरसता, ऊब, अकेलापन हो जाते हैं। इतना ही नहीं, मालती की समस्त मानवीय संवेदनाएँ उसके अकेलेपन तथा एकरसता में मर गयी प्रतीत होती है तथा मालती मानव चरित्र न रहकर एक मशीन भर रह जाती है। पात्रों के अपात्रीकरण या मशीनीकरण की प्रक्रिया को चित्रित करने वाली अज्ञेय की 'रोज' एक उत्कृष्ट कहानी है। इस दौर के कहानीकारों में अश्क में भी प्रमुख पात्रों को पूरा महत्व देने की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। उन्होंने भी 'डाची' में पशु को मानवीय संवेदनाओं से सम्पृक्त करके प्रस्तुत किया है। सामाजिक परिवर्तन के प्रति पूर्ण सजगता की दृष्टि से यशपाल इस दौर के सबसे समर्थ कथाकार हैं। उनकी कहानियों में सामाजिक समस्याओं के प्रति पूरा आग्रह है, अतः वे नायक-नायिका से ज्यादा महत्व सामाजिक समस्याओं को देते हैं या जीवन स्थितियों को देते हैं। उनकी 'परदा' कहानी ली जा सकती है—इस कहानी में चौधरी पीरबख्श यद्यपि प्रमुख पात्र है तथापि लेखक का उद्देश्य नायक के चरित्र को उभारना न होकर मध्यवर्गीय मनोवृत्ति के संदर्भ में झूठे सामाजिक दम्भ के परदे के पीछे छिपी मध्य-वर्ग के व्यक्ति की मानसिकता को चित्रित करना है। अतः यहां पर परदा, जो मध्य-वर्गीय मानसिकता का प्रतीक है, ही एक महत्वपूर्ण पात्र बनकर उभरता है, जिसके हटते ही पीरबख्श की असलियत प्रकट हो जाती है। इस तरह 'परदा' कहानी किसी व्यक्ति की कहानी न होकर मध्यवर्ग की नियति की कहानी बन जाती है।

इसके बाद स्वातंत्र्योत्तर कहानी का दौर आता है—जहां कहानी की रचना प्रक्रिया के बाबत बातें पहले स्पष्ट कर लेना जरूरी है—पहली बात तो यह है कि यहां तक आते आते कथाकार ने तिजलिजी भावुकता को तिलांजली दे दी थी। उसका दृष्टिकोण जीवन को आदर्श में लिपटी अश्रु विगलित भावुकता के साथ देखने का नहीं रह गया था। वह जीवन को उसके यथार्थ रूप में देखने का प्रयास कर रहा था। दूसरे उसने निस्संग तथा तटस्थ भाव से जीवन को साहित्य में देखना प्रारम्भ किया। उसके लिए अब वह स्वयं (दृष्टा) प्रधान नहीं रहा बल्कि जीवन (दृश्य) प्रधान हो गया। अतः उसकी दृष्टि जीवन के यथार्थ को निर्ममता से देखने की अभ्यस्त हो गयी। तीसरे किसी पात्र को केन्द्र में रखकर कहानी रचना अब उसके वस का नही था। मार्कण्डेय की कहानियों के संदर्भ में भैरव प्रसाद गुप्त ने ठीक ही कहा है कि "पात्र को लेकर कहानी बनाने के यत्न से यशपाल को जो कहानी के बजाय शब्द चित्र बन जाने का भय था उसी से मार्कण्डेय ने जमीन तोड़ी थी;...... यहा पात्रो को लेकर कहानी बनाने का यत्न नही है। यहां पात्रो को सीधे उसके परिवेश से उठा लिया गया है।" यहां कोई बात कहने के लिये पात्रो को गढ़-कर खड़ा नही किया है और न उनके इर्द-गिर्द कल्पित घटनाओ का जाल बुना गया

है। यहां पात्र अपने जिन्दा परिवेश में स्वयं जीवन को प्रस्तुत करते है। इस दौर में यद्यपि ऐसी अनेक कहानिया लिखी गयी, जिनमे बहुत ही सशक्त पात्र उभरे हैं—गुलरा के बाबा, हंसा (मार्कण्डेय), भैरों-पाण्डे (शिवप्रसाद सिह), हीरामन (रेणु), महेश पाण्डे (कमलेश्वर) आदि ऐसे ही अमर पात्र हैं, जो हमारे जीवन की वास्तविकता के ऐतिहासिक प्रतीक हैं। किन्तु ये सभी पात्र नायक की परम्परागत छवि के अनुरूप न होकर जीवन की वास्तविकता के अधिक निकट हैं क्योंकि इन कहानियों के लेखकों ने ये कहानिया यथार्थ जीवन से सम्पूर्ण निर्ममता के साथ उठा ली है। इस दृष्टि से अमरकान्त की 'जिन्दगी और जोंक' कहानी सबसे ज्यादा ध्यान आकृष्ट करती है। इस कहानी का रजुआ एक भिखमगा है तथा उसके लिए सामाजिक तथा व्यक्तिगत दृष्टि से उसकी जिन्दगी का कोई अर्थ नहीं है किन्तु साधारण रजुआ मे अदम्य जिजीविषा है। टुच्चे मोहल्ले वालों के छोटे स्वार्थों तथा विषम परिस्थितियो के बीच भी रजुआ का जीने के लिये अनवरत संघर्ष और तड़प उसकी जिन्दगी की प्रत्येक सास की कीमत चुकाते है। इस दौर मे यह हुआ कि हिन्दी कहानी में रजुआ जैसे साधारण पात्र अपनी असाधारण जीवनी-शक्ति लेकर विषम सामाजिक परिवेश के साथ उभरे। वस्तुतः कथाकारों का बल पात्रों के चरित्र पर उतना नही जितना कि पात्र और परिवेश के सम्बन्धों को चित्रित करने पर है। राजेन्द्र यादव का कथन सार्थक प्रतीत होता है कि 'उसकी (कहानी की) थीम तो व्यक्ति और परिस्थिति की वह घनीभूत (इंटेंसीफाइड) संयुक्ति है जो आज की वास्तविकता है।'

इस क्रम में व्यक्ति और परिवेश के सम्बन्धों की खोज में कहानियों का वैयक्तिक धरातल छूटने लगा और उनमें सामाजिक परिवेश उभरने लगा। इसका कारण यह रहा कि लेखक उस सामाजिक यथार्थ का स्वयं ही भोक्ता था। मोहन राकेश की 'मलबे का मालिक' कहानी दो पात्रों की—रक्खे पहलवान और बुड्ढे गनी की—कहानी ही नही है बल्कि 'विभाजन की विभीषिका से बचे हुए उस मलबे की है जो हमारे सामने आज भी ज्यों का त्यों पड़ा है और इसकी चौखट की सड़ी लकड़ी के रेशे-रेशे झर रहे हैं' (डा. धनजंय वर्मा)। इस तरह इस कहानी का नायक तो यह मलबा ही हो गया है।

कमलेश्वर की 'खोयी हुई दिशाएँ' या 'दिल्ली में एक मौत' कहानियों मे पात्र है—पर वे नायक नही हैं, नायक तो महानगरीय जीवन की यातना है जिसने पात्रों के जीवन में अलगाव, अकेलापन, ऊब आदि भर दिये है तथा जो पात्रो की पहचान को भी लील बैठी है। तभी तो 'खोयी हुई दिशाएँ' का चन्दर अपनी पत्नी से पूछता है 'नीलिमा तुम तो मुझे पहचानती हो।' मनहर चौहान की 'बीस सुबहों के बाद' कहानी मे महानगरीय जीवन के व्यस्तताजन्य अपरिचय का भाव ही प्रमुख पात्र का रूप धारण कर लेता है। रामदरश मिश्र की 'इकता हुआ नगर' तथा

महीपसिंह की 'कील' आदि कहानियों में महानगरीय परिवेश अपनी सघनता के साथ व्यक्त हुआ है जो मानव पात्रों को खा रहा है।

स्वतन्त्रता के बाद सांस्कृतिक संक्रमण की प्रतिक्रिया बहुत तेजी से समाज और व्यक्ति की स्थितियों को बदलती रही है। सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों में जो परिवर्तन आया वही पात्रों के सम्बन्धों के रूपों में भी बदलाव लाया। परम्परागत रिश्ते टूट गये तथा पात्र अपने आप में सिमटने लगे। रिश्तों के टूटने का परिणाम यह हुआ कि पात्रों की सामाजिक-सम्बन्धों में बनी प्रतिमाएँ टूटने लगी। पिता की प्रतिमा का खण्डित होता हुआ रूप राजेन्द्र यादव की 'बिरादरी बाहर' तथा उषा प्रियंवदा की 'वापसी' कहानियों में देखा जा सकता है। पर इन कहानियों का पिता समाज में होने वाले परिवर्तन को स्वीकार नहीं कर पाता, बदले हुए माहौल में अपने को मिसफिट पाता है और अपने और नयी पीढ़ी के बीच के अन्तर को तल्खी के साथ महसूस करता है यह अनुभव उसे कचोटता है। पर इसके आगे जाकर ज्ञानरंजन की 'पिता' तथा रमेशबक्षी की 'पितादर पिता' कहानी के पिता बदलाव को स्वीकार कर लेते हैं। इस तरह यहां तक आते-आते परम्परागत पिता की प्रतिमा विसर्जित हो जाती है। परस्पर सम्बन्धों के बदलाव के संकट को मोहन राकेश की 'आर्द्रा' तथा अमरकान्त की 'असमर्थ हिलता हाथ' कहानियों की मां भी महसूस करती हैं।

सामाजिक रिश्तों के बदलाव के सन्दर्भ में सर्वाधिक संकट प्रेम सम्बन्धों को लेकर आया है। भारतीय समाज में नारी की शारीरिक पवित्रता का विशेष महत्व रहा है। सामान्यतः भारतीय नारी के लिए इस सीमा रेखा का उल्लंघन असम्भव नहीं तो तकलीफ देह जरूर रहा है। पर जीवन की बदलती स्थितियों ने इस मूल्य को भी झकझोर कर रख दिया है। मन्नू भण्डारी की 'ऊंचाई' कहानी की नायिका के अनुसार यदि कोई नारी परिस्थितिवश कुछ क्षणों के लिये अपना शरीर किसी पुरुष को समर्पित कर देती है तब भी उसके हृदय की जिस ऊंचाई पर उसके पति की प्रतिमा स्थापित है, वहां कोई नहीं आ सकता। अतः वह झूठा पश्चाताप दिखाकर क्षमा याचना नहीं करती। किन्तु जीवन मूल्यों का यह परिवर्तन अधिसंख्य कहानियों में मानसिक संघर्ष का कारण बनता है। पात्र इस संघर्ष को झेलते हैं और टूटते हैं। इतना ही नहीं, राजेन्द्र यादव की 'छोटे-छोटे ताजमहल' (विजय और मीरा); राम कुमार की 'यात्रा' (वह और देवा); मोहन राकेश की 'एक और जिन्दगी', कमलेश्वर की 'राजा निरबसिया', गिरिराज किशोर की 'फाक वाला घोड़ा और निकर वाला साईस' आदि कहानियों के नायक-नायिका सामान्यतः एन्टी हीरोइक हैं—सभी अपने आप में सिमटे, कुचले और नपुंसक। यहां ये पात्र परस्पर परिचित होते हुए भी अपरिचय का कष्ट भोगते हैं।

अलगाव, अपरिचय, एकरसता, ऊब, व्यर्थता बोध आदि की अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्योत्तर कहानी की प्रमुख विशेषता रही है। इन स्थितियों का परिणाम यह

हुआ है कि कहानियों मे पात्रो की संज्ञाएं ही लुप्त हो गयी हैं—उनके नाम तक लुप्त हो गये हैं, 'वह', 'मैं', 'यह' आदि से पात्रों का बोध होता है या वे क ख ग जैसे नामों में समा गया है। अलगाव की इस प्रवृत्ति का नशा हिन्दी कहानीकारों का एक बारगी तो ऐसा छाया कि लेखक और समाज के सम्बन्ध ही रचना के विषय से बाहर हो गये। 60-70 के बीच हिन्दी कहानी में एक ऐसा दौर आया जब पात्र पूरी तरह अपनी मनः ग्रन्थियों की केंचुल में सिमट कर रह गये अथवा यौन विकृतियो के शिकार होकर आत्मरति में लीन हो गये।

नायक-नायिका की परम्परागत प्रतिमा जरुर खण्डित हुई। पात्रो को केन्द्र में रखकर कहानियों के लिखने का सिलसिला जरुर रुका किन्तु जीवन्त पात्रों से युक्त कहानी की अन्तः सलिता निरन्तर(कभी क्षीए भले ही हो गयी हो) बहती रही है। समकालीन कहानी के पात्र जीवन की विसंगतियों से जूझ रहे है तथा परिवेश के दबाव को सह रहे हैं। अमरकान्त, इसराइल, कमलेश्वर, ज्ञानरंजन, काशीनाथ सिंह, मधुकरसिंह आदि कहानीकारो के पात्र निरन्तर जीवन स्थितियों से जूझ रहे हैं और उनका संघर्ष ही उनकी पहचान को ताजा बनाता है।

प्रेमचन्द : कहानीकार

मार्च, 1932 में प्रेमचन्द ने 'हंस' मे लिखा था, 'मनुष्य मे जो कुछ सुन्दर है, विशाल है, आदरणीय है, आनन्दप्रद है, साहित्य उसी की मूर्ति है। उसकी गोद में उसे आश्रय मिलना चाहिये जो निराश्रय है, जो पतित है जो अनाहत है!' यदि हम गौर से देखें तो सहज ही यह निष्कर्ष निकल आएगा कि प्रेमचन्द की सम्पूर्ण साहित्य साधना इसी अवधारणा से प्रेरित हुई है। प्रेमचन्द की रचनात्मक चेतना का विकास एक ओर स्वतन्त्रता आन्दोलन की हलचलों में हुआ तो दूसरी ओर उनके व्यक्तिगत जीवन संघर्ष के तीखे अनुभवों मे। यदि हम उनकी रचनात्मक चेतना के अन्तः सूत्रों को खोजने का प्रयास करें तो स्पष्ट हो जाता है :—

(i) प्रेमचन्द को अपना जीवन घोर आर्थिक कठिनाइयों में व्यतीत करना करना पड़ा, फिर भी वे निरन्तर लिखते रहे, 'हंस' निकालते रहे, 'जागरण' छापते रहे और चलाते रहे। आर्थिक स्तर पर निरन्तर संघर्ष उनकी रचनात्मक चेतना का महत्वपूर्ण सूत्र है।

(ii) प्रेमचन्द का युग तेज हलचलों का युग था, समाज नयी करवट ले रहा था, लोकमान्य तिलक, महर्षि दयानन्द, लाला लाजपतराय तथा महात्मा गांधी जैसे राजनीतिक और सामाजिक नेताओं के विचारों तथा क्रियाकलापों का प्रभाव प्रेमचन्द ने ग्रहण किया। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर रूसी-क्रांति के परिणामस्वरूप मार्क्स, ऐन्गेल्स तथा लेनिन के विचारों ने भारत के आर्थिक-सामाजिक क्षेत्रों में तीव्र प्रतिक्रिया की। रूसी साहित्य के अध्ययन के माध्यम से प्रेमचन्द पर इन विचारों का भीतरी असर हुआ।

(iii) प्रेमचन्द की रचनात्मक चेतना का एक महत्वपूर्ण सूत्र यह भी है कि उन्होंने टॉलसटाय, विक्टर ह्यूगो, आस्कर वाइल्ड, डेंटन, गाल्संवर्दी, अनातोले फ्रास, तुर्गनेव, रोम्याँ रोलां, मार्ले, डेन्टी, गोर्की, रवीन्द्रनाथ टैगोर, रतननाथदर लखनवी आदि देश विदेश के रचनाकारों का अध्ययन किया। इस व्यापक अध्ययन ने निश्चय ही

उनकी रचनात्मक चेतना को व्यापक-क्षितिज दिए। उनकी रचनाओं पर टॉलस्टॉय तथा गोर्की का प्रभाव तो स्पष्ट ही देखा जा सकता है।

(iv) प्रेमचन्द एक अत्यन्त साधारण तथा सीधे-सादे व्यक्ति थे। उनको शहरी जीवन की कृत्रिमता और औपचारिकता पसन्द नहीं थी। सरलता तथा सहजता उनके व्यक्तित्व के मूलभूत गुण थे जो उनकी रचनाओं में भी यथावत देखे जा सकते हैं।

प्रेमचन्द अपने जीवन के आरम्भ में अध्यापक के रूप में उस शासन व्यवस्था के अंग बने, (निश्चय ही आजीविका कमाने की गरज से) जिसके खिलाफ उस समय भारतीय आन्दोलन कर रहे थे। प्रेमचन्द की चेतना सीधे स्वतन्त्रता आन्दोलन तथा समाज के सुधार से जुड़ी थी, इसलिए उन्होंने खुद को शीघ्र ही राजकीय सेवा से मुक्त कर लिया और सक्रिय रूप से स्वतन्त्रता आन्दोलन के सिपाही बन गये। उनका यह चुनाव उनकी अन्तश्चेतना की माग थी, इसलिए रचनात्मक स्तर पर भी वे स्वयं को स्वतन्त्रता आन्दोलन के बीच रख सके। प्रेमचन्द की कहानियों पर विचार करने से पूर्व यह संकेत करना भी अभीष्ट रहेगा कि प्रेमचन्द के मन में प्रारम्भ से ही किसी प्रकार का उलझाव नही था, प्रेमचन्द के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं, उनके चिन्तन तथा तद्युगीन समाज का अध्ययन करने के लिए प्रेमचन्द की रचनाओं से अधिक प्रामाणिक सामग्री हमें अन्यत्र न मिलेगी। इस दृष्टि से प्रेमचन्द की रचनाएं ऐसी पारदर्शी हैं जिन पर प्रेमचन्द व्यक्ति तथा लेखक और प्रेमचन्द-युग का विश्वसनीय अक्स देखा जा सकता है।

प्रेमचन्द ने ढाई सौ से अधिक कहानियां लिखीं तथा अपने पूरे जीवन काल में वे कहानियां लिखते रहे। 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' से लेकर 'कफन' तक उनकी कहानियां पर्याप्त लम्बी तथा महत्वपूर्ण हैं और इस यात्रा के विभिन्न पड़ावों पर प्रेमचन्द की रचनात्मक चेतना को विभिन्न स्तरों पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, प्रेमचन्द की कहानियों की दुनिया समान नही है, इसीलिए डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा है कि प्रेमचन्द की 'कहानियां कला और विषय वस्तु के लिहाज से काफी ऊंचे-नीचे स्तरों की है······उनके उपन्यासों के बीच उतना बड़ा फासला नहीं है जितना उनकी कहानियों के बीच है' किन्तु प्रेमचन्द हिन्दी के पहले कहानीकार हैं जिन्होंने कहानी विधा को कल्पनाविलास और नीति उपदेश की स्थूलताओं से मुक्त कर सामाजिक यथार्थ की जमीन पर खड़ा किया, उन्होंने कहानी को पाठकों के मनोरंजन तथा मानसिक तृप्ति के साधन के साथ-साथ उसे सामाजिक सरोकारों से जोड़कर पाठकों में कहानी के द्वारा सामाजिक चेतना के प्रकाश पर बल दिया। प्रेमचन्द के लिए कहानी लेखन का सम्बन्ध बुनियादी तौर पर सामाजिक परिवर्तन से है। उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'मैं और चीजों की तरह कला को भी

प्रेमचन्द : कहानीकार

मार्च, 1932 मे प्रेमचन्द ने 'हंस' में लिखा था, 'मनुष्य में जो कुछ सुन्दर है, विशाल है, आदरणीय है, आनन्दप्रद है, साहित्य उसी की मूर्ति है। उसकी गोद में उसे आश्रय मिलना चाहिये जो निराश्रय है, जो पतित है जो अनाहत है !' यदि हम गौर से देखें तो सहज ही यह निष्कर्ष निकल आएगा कि प्रेमचन्द की सम्पूर्ण साहित्य साधना इसी अवधारणा से प्रेरित हुई है। प्रेमचन्द की रचनात्मक चेतना का विकास एक ओर स्वतन्त्रता आन्दोलन की हलचलों में हुआ तो दूसरी ओर उनके व्यक्तिगत जीवन संघर्ष के तीखे अनुभवों मे। यदि हम उनकी रचनात्मक चेतना के अन्तः सूत्रों को खोजने का प्रयास करें तो स्पष्ट हो जाता है :—

(i) प्रेमचन्द को अपना जीवन घोर आर्थिक कठिनाइयों में व्यतीत करना करना पड़ा, फिर भी वे निरन्तर लिखते रहे, 'हंस' निकालते रहे, 'जागरण' छापते रहे और चलाते रहे। आर्थिक स्तर पर निरन्तर संघर्ष उनकी रचनात्मक चेतना का महत्वपूर्ण सूत्र है।

(ii) प्रेमचन्द का युग तेज हलचलों का युग था, समाज नयी करवट ले रहा था, लोकमान्य तिलक, महर्षि दयानन्द, लाला लाजपतराय तथा महात्मा गांधी जैसे राजनीतिक और सामाजिक नेताओं के विचारों तथा क्रियाकलापों का प्रभाव प्रेमचन्द ने ग्रहण किया। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर रूसी-क्रांति के परिणामस्वरूप मार्क्स, ऐन्गेल्स तथा लेनिन के विचारों ने भारत के आर्थिक-सामाजिक क्षेत्रों में तीव्र प्रतिक्रिया की। रूसी साहित्य के अध्ययन के माध्यम से प्रेमचन्द पर इन विचारों का भीतरी असर हुआ।

(iii) प्रेमचन्द की रचनात्मक चेतना का एक महत्वपूर्ण सूत्र यह भी है कि उन्होंने टॉलसटाय, विक्टर ह्यूगो, आस्कर वाइल्ड, डैंटन, गाल्संवर्दी, अनातोले फ्रांस, तुर्गनेव, रोम्यां रोलां, मार्ले, डैन्टी, गोर्की, रवीन्द्रनाथ टैगोर, रतननाथदर सखनवी आदि देश विदेश के रचनाकारों का अध्ययन किया। इस व्यापक अध्ययन ने निश्चय ही

उनकी रचनात्मक चेतना को व्यापक-क्षितिज दिए। उनकी रचनाओं पर टॉलसटॉय तथा गोर्की का प्रभाव तो स्पष्ट ही देखा जा सकता है।

(iv) प्रेमचन्द एक अत्यन्त साधारण तथा सीधे-सादे व्यक्ति थे। उनको शहरी जीवन की कृत्रिमता और औपचारिकता पसन्द नही थी। सरलता तथा सहजता उनके व्यक्तित्व के मूलभूत गुण थे जो उनकी रचनाओं मे भी यथावत देखे जा सकते हैं।

प्रेमचन्द अपने जीवन के प्रारम्भ में अध्यापक के रूप में उस शासन व्यवस्था के अंग बने, (निश्चय ही आजीविका कमाने की गरज से) जिसके खिलाफ उस समय भारतीय आन्दोलन कर रहे थे। प्रेमचन्द की चेतना सीधे स्वतन्त्रता आन्दोलन तथा समाज के सुधार से जुड़ी थी, इसलिए उन्होंने खुद को शीघ्र ही राजकीय सेवा से मुक्त कर लिया और सक्रिय रूप से स्वतन्त्रता आन्दोलन के सिपाही बन गये। उनका यह चुनाव उनकी अन्तश्चेतना की मांग थी, इसलिए रचनात्मक स्तर पर भी वे स्वयं को स्वतन्त्रता आन्दोलन के बीच रख सके। प्रेमचन्द की कहानियों पर विचार करने से पूर्व यह संकेत करना भी अभीष्ट रहेगा कि प्रेमचन्द के मन में प्रारम्भ से ही किसी प्रकार का उलझाव नहीं था, प्रेमचन्द के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं, उनके चिन्तन तथा तद्‌युगीन समाज का अध्ययन करने के लिए प्रेमचन्द की रचनाओं से अधिक प्रामाणिक सामग्री हमें अन्यत्र न मिलेगी। इस दृष्टि से प्रेमचन्द की रचनाएं ऐसी पारदर्शी हैं जिन पर प्रेमचन्द व्यक्ति तथा लेखक और प्रेमचन्द-युग का विश्वसनीय अक्स देखा जा सकता है।

प्रेमचन्द ने ढ़ाई सौ से अधिक कहानियां लिखी तथा अपने पूरे जीवन काल मे वे कहानिया लिखते रहे। 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' से लेकर 'कफन' तक उनकी कहानियां पर्याप्त लम्बी तथा महत्वपूर्ण हैं और इस यात्रा के विभिन्न पड़ावों पर प्रेमचन्द की रचनात्मक चेतना को विभिन्न स्तरो पर स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, प्रेमचन्द की कहानियों की दुनिया समान नहीं है, इसीलिए डॉ. रामविलास शर्मा ने कहा है कि प्रेमचन्द की 'कहानियां कला और विषय वस्तु के लिहाज से काफी ऊंचे-नीचे स्तरों की है...... उनके उपन्यासों के बीच उतना बड़ा फासला नहीं है जितना उनकी कहानियों के बीच है' किन्तु प्रेमचन्द हिन्दी के पहले कहानीकार हैं जिन्होंने कहानी विधा को कल्पनाविलास और नीति उपदेश की स्थूलताओं से मुक्त कर सामाजिक यथार्थ की जमीन पर खड़ा किया, उन्होंने कहानी को पाठकों के मनोरंजन तथा मानसिक तृप्ति के साधन के साथ-साथ उसे सामाजिक सरोकारों से जोड़कर पाठकों मे कहानी के द्वारा सामाजिक चेतना के प्रकाश पर बल दिया। प्रेमचन्द के लिए कहानी लेखन का सम्बन्ध बुनियादी तौर पर सामाजिक परिवर्तन से है। उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'मैं और चीजो की तरह कला को भी

उपयोगिता की तुला पर तोलता हूं।' वे कहानी के विषय में जो सोचते थे, इन शब्दो से स्पष्ट हो जाता है 'हमने जिस युग को भी पार किया है उसे जीवन से कोई मतलब न था, हमारे साहित्यकार कल्पना की सृष्टि खडी कर उसमे मनमाने तिलिस्म बाधा करते ...... साहित्य से जीवन का कोई लगाव है, यह कल्पनाहीन था, कहानी कहानी है, जीवन जीवन है। दोनों परस्पर विरोधी वस्तुएं समझी जाती थीं।' स्पष्ट है कि प्रेमचन्द ने हिन्दी कहानी को जीवन तथा उसके सरोकारों के सामने लाकर खड़ा कर दिया।

फिर भी यह देखकर आश्चर्य होता है कि उनके पहले कहानी संग्रह 'सोजे-वतन' की कहानिया मूलत. कल्पना लोक की कहानिया हैं। किन्तु उनका यह कल्पनालोक सीधे-साधे भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन से जुड़ा हुआ है, स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रति प्रेमचन्द का तीव्र आग्रह था जिसका प्रभाव उनकी रचनात्मक चेतना पर पडा। उनकी 'दुनिया का सबसे अनमोल रत्न' 'शेख मखमूर' 'यही मेरा वतन है' तथा 'सांसारिक प्रेम और देश प्रेम' जैसी प्रारम्भिक कहानिया भावात्मक रूप से देश प्रेम तथा राष्ट्र के लिए बलिदान जैसी भावनाओं से अनुप्राणित है, ये कहानियां राष्ट्र भक्ति की भावना को असाधारण गौरव तथा गरिमा प्रदान करती हैं कि संसार में देश प्रेम से बढकर कोई चीज नहीं है, कि उन्ही लोगों का जीवन सार्थक है जो देश के लिए अपना जीवन बलिदान करते हैं। ये सभी घटनाएं बहुल, कल्पना बहुत तथा अद्भुत संयोग तत्व बहुल कहानियां हैं। किन्तु कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त साधारण इन कहानियों की महत्ता इस तथ्य में हैं कि ये प्रेमचन्द की रचनात्मक चेतना की दिशा की ओर संकेत करती है, प्रेमचन्द के लिये कहानी लेखन प्रारम्भ से ही जीवन-संघर्ष से जूझने का साधन था। यदि ऐसा न होता तो फंतासियों से पूर्ण ये कहानियां तत्कालीन शासन को खतरनाक न लगतीं तथा उसके द्वारा जब्त न की जाती। मधुरेश का यह कथन सही है कि 'सोजेवतन' से प्रेमचन्द ने कहानी को जातीय और, राष्ट्रीय सवालों से जोड़ने की परम्परा का सूत्रपात किया।

'सोजे वतन' की कहानियों के साथ प्रेमचन्द की कहानियो का पहला दौर प्रारम्भ होता है, जिसमे अधिकांश घटना बहुल कहानियां है। यद्यपि इन कहानियों के पात्र तत्कालीन जीवन के है तथापि आकस्मिक सयोग और पात्रों के आकस्मिक हृदय-परिवर्तन द्वारा प्रेमचन्द ने अपनी मान्यताओं का सरलीकरण इन कहानियो में किया है। इस दौर की प्रत्येक कहानी मे या तो कोई चरित्र केन्द्र में है या कोई घटना जिसका उपयोग प्रेमचन्द ने किसी आदर्श को स्थापित करने के लिए किया है, 'मिलाप', 'नेकी', 'पुत्र-प्रेम', 'प्रतिशोध', 'सिर्फ एक आवाज', 'देवी' आदि कहानिया विचित्र सयोगों, हृदय परिवर्तन तथा प्रायश्चित आदि को आधार बनाकर

लिखी गई हैं। इन कहानियो में वर्णित घटनाक्रम काफी लम्बे कालखण्ड को घेरे हैं। 'नेकी' कहानी मे चित्रित घटनाएँ बीस वर्ष से अधिक लम्बे काल में फैली हुई हैं। इसीमें हीरामणि के प्रायश्चित की कथा है जो तखत सिंह नामक व्यक्ति पर मनमाने जुल्म करता है, इसी तखतसिंह ने उसे बचपन में डूबने से बचाया था, जब हीरामणि को इस तथ्य की जानकारी मिलती है तो वह ग्लानि की आग में जलता है और तखतसिंह की स्मृति में शिवालय, पक्का कुआ, धर्मशाला बनवाकर अपने किए का प्रायश्चित करता है। 'सिर्फ एक आवाज' कहानी मे प्रेमचन्द बुद्धिजीवियों की तुलना मे उस अज्ञानी ठाकुर के चरित्र को अधिक श्रेष्ठ प्रमाणित करते है जो करनी तथा कथनी में भेद नही करता, पर ठाकुर के सारे क्रियाकलाप भावुकतापूर्ण अन्तःप्रेरणा की देन है।

किन्तु इन कहानियों मे हमें प्रेमचन्द की चेतना का विस्तार होते हुए दिखायी देता है। वे चीजो को समझने तथा उनके मूल में जाने के लिए प्रयत्नशील दिखाई पड़ते है। 'देवी' कहानी मे प्रेमचन्द उस औरत को देवी कहते हैं जो अनायास मिले हुए दस के नोट को भिखारी को देकर सबके कौतूहल और आकर्षण का केन्द्र बन जाती है। वस्तुतः दस के नोट को भिखारी को देने के पीछे वह हिन्दू चिन्तन काम कर रहा है जो पराए धन का उपयोग उचित नहीं मानता, इस कहानी में लेखक हिन्दू सोच की इस रूढ़ि पर चोट कर सकता था। 'अंधेर' इस दौर की एक महत्वपूर्ण कहानी है जिसमें प्रेमचन्द ने कुशलतापूर्वक स्पष्ट किया है कि गांव में व्याप्त अशिक्षा तथा परस्पर फूट का लाभ पुलिस वाले तथा मुखिया दोनों ही उठाते है। यह कहानी एक ओर मुखिया तथा पुलिस गठजोड़ को नगा करती है तो दूसरी ओर हिन्दु-मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं के खोखलेपन पर प्रहार करती है, कहानी का प्रमुख पात्र चिल्लाकर कहता है, 'सत्यनारायण की महिमा नहीं यह अंधेर है'। जब गोपाल पुलिस के चंगुल से मुक्त होकर गाव लौटता है तो मुखिया और अन्य लोग उसे सत्यनारायण की कथा करवाने के लिए उकसाते है पर वह उनके षड़यन्त्र का शिकार नही होता क्योंकि उसकी आस्था पाखण्डपूर्ण धर्मानुष्ठान से उठ चुकी है। 'होली की छुट्टी' कहानी में प्रेमचन्द के निजी जीवन का रंग उभरा है। इसमे सेवा के आदर्श को स्थापित करने की चेष्टा है। यहां भी आकस्मिक हृदय परिवर्तन है किन्तु लेखक ने विद्यालय का वातावरण, शिक्षकों का अभिशप्त जीवन हैडमास्टर द्वारा शिक्षकों को परेशान करने की हरकतों आदि का आकर्षक वर्णन किया है, इस दौर की कहानियों में प्रेमचन्द की दृष्टि पूरी तरह आदर्शवादी तथा कुछ हद तक सुधारवादी है।

उनकी सुधारवादी दृष्टि दूसरे दौर की कहानियों मे और अधिक विस्तार पाती है क्योंकि प्रेमचन्द की रचनात्मक चेतना पर गांधीजी का गहरा प्रभाव पड़ा

था। वे विभिन्न कहानियों में समाज की एक-एक कुरीति को लेते हैं, उस पर प्रहार करते हैं तथा उसका सुधारात्मक निदान देते हैं, 'नमक का दरोगा' कहानी में वंशीधर के रूप में एक ईमानदार कर्त्तव्यनिष्ठ एवं कर्मठ अफसर की प्रतिमा बनाते हैं जिसके समक्ष पंडित अलोपीदीन का धनिक अहंकार चूर-चूर हो जाता है, किन्तु न्याय व्यवस्था ईमानदार और कर्तव्यपरायण वंशीधर को दण्डित करती है और अलोपीदीन जैसे भ्रष्ट पूंजीपति को बेकसूर साबित कर देती है, प्रेमचन्द यहां तक कहानी को कलात्मक ढंग से संभालते रहते हैं पर वे तो अलोपीदीन के हृदय को सुधारना चाहते है, उनके मन में आदर्शवाद के प्रति अतिशय मोह है जिसके परिणामस्वरूप वंशीधर को अलोपीदीन जैसे भ्रष्ट पूंजीपति को मैनेजर नियुक्त करा देते है, जब वंशीधर अलोपीदीन का प्रस्ताव स्वीकार कर लेता है तो विजयी ईमानदारी और कर्त्तव्यनिष्ठा की न होकर भ्रष्टाचार तथा पूंजीवादी छल की होती है, इस कहानी से विपरीत 'सज्जनता का दण्ड' कहानी एक बेहतर कहानी है क्योंकि उसमें किसी आदर्श को स्थापित करने के प्रति लेखक का कोई आग्रह नहीं है। इस कहानी के इन्जीनीयर शिवसिंह की प्रतिमा भी निष्कलंक रहती है।

आदर्शवादी एवं सुधारवादी दृष्टि का एक कारण यह भी है कि प्रेमचन्द के मन में मनुष्य की सद्वृत्तियो के प्रति गहरी आस्था है, उन्हें लगता है कि मनुष्य बुनियादी तौर पर बुरा नही होता एवं उसके सुधार की सम्भावनाएं सदा बनी रहती है। 'पंच परमेश्वर' कहानी में प्रेमचन्द की यह आस्था पूरी तन्मयता के साथ मुखरित हुई है, किन्तु मनुष्य का सद्वृत्तियों की विजय के चक्कर में प्रेमचन्द उन मूल्यों का अनुमोदन कर जाते हैं जो अपनी प्रासंगिकता खो चुके है। 'बड़े घर की बेटी' कहानी में प्रेमचन्द को अहसास तो हो गया है कि संयुक्त-परिवार प्रथा अब खण्ड हो चुकी है तथा उसे जिलाए रख सकना अब सम्भव नही है, किन्तु कहानी का अन्त जिस काल्पनिक आदर्शवाद की स्थापना के साथ होता है वह यथार्थ जीवन के विरुद्ध तो है ही, ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द ढहती संयुक्त परिवार व्यवस्था की हिमायत कर रहे हैं।

'माता का हृदय' 'वज्रपात' 'मुक्ति का मार्ग' 'दुर्गा का मन्दिर' तथा 'आत्माराम' जैसी इस दौर की कहानियों में प्रेमचन्द अकारण संयोगो द्वारा सामाजिक आदर्शों तथा सद्वृत्तियों की भावुकतापूर्ण दृष्टि से स्थापना करते है, 'मंत्र' कहानी तो आज की वैज्ञानिक दृष्टि को भी नकारती है कहानी के अन्त में डॉक्टर चड्ढा का हृदय परिवर्तन होता है और वे कहते है, उसकी सज्जनता ने मुझे ऐसा आदर्श दिखा दिया है जो अब से जीवन पर्यन्त मेरे सामने रहेगा।' आदर्श अपनी जगह ठीक है, स्पृहणीय है किन्तु जिस तरीके से इसे स्थापित किया गया है वह यथार्थपरक दृष्टि नहीं है, यह नहीं कि इस दौर में प्रेमचन्द ने जितनी भी कहानियां लिखी, वे

सब इन दोषों से युक्त है, 'शांति' शीर्षक कहानी में प्रेमचन्द किसी आदर्श को स्थापित नहीं करते प्रत्युत जीवन के यथार्थ को सूक्ष्म दृष्टि से पकड़ना चाहते है, शांति वहां किसी पात्र का नाम न होकर गोपा नामक महिला की गहरी व्यथा का रूप है, देवनाथ की मृत्यु के पश्चात् उसकी पत्नी गोपा पूरे स्वाभिमान के साथ अपना घर सम्हालती है, अपनी पुत्री सुनीता को अच्छे परिवार में व्याहती है, किन्तु सुनीता और उसके पति के बीच निभ नही पाती, सुनीता पति का घर छोड़कर अपनी मां गोपा के पास नही जाती बल्कि आत्महत्या कर सभी पारिवारिक यातनाओं से मुक्ति प्राप्त कर लेती है। गोपा को शांति की अनुभूति होती है कि उसके समान उसकी पुत्री ने भी स्वाभिमान के साथ कर्त्तव्य पूरा किया। यह शांति दरअसल संतोषकारक न होकर व्यथाकारक है, पर यह कहानी इस व्यथा को बडी कुशलता से उभारती है, 'मृत्यु के पीछे' इस दौर की एक महत्वपूर्ण कहानी है जिसमे प्रेमचन्द ने अपने जीवन के अभावो को चित्रित किया है। ईश्वरचन्द्र एक देश भक्त तथा निष्ठावान पत्रकार है, वकालात को छोड़कर इधर आया है, सारे कष्टों को सहनकर 'गौरव' पत्र निकालने का नशा उस पर छाया है, पर उसकी पत्नी मानकी उसके इस धर्म का विरोध करती है, ईश्वर चाहता है कि उसका पुत्र कृष्णचन्द्र उसके इस कार्य में शामिल होकर पत्रकार बने पर मानकी ऐसा नहीं करने देती। उल्टे वह अपने पति को फटकारती है, किन्तु ईश्वरचन्द्र की मृत्यु के बाद उसे जो राष्ट्रीय सम्मान मिलता है उसमे मानकी का हृदय बदल जाता है। हृदय परिवर्तन इस कहानी में भी है पर वह किसी आदर्श का अंग होकर जीवन की एक स्थिति की महज परिणति है। इस स्थल तक आते आते प्रेमचन्द जीवन के यथार्थ से सीधे जुड़ने लगे है तथा समस्याओं को सीधे जीवन से उठाने लगे हैं पर आदर्शों के प्रति उनका मोह बना हुआ है।

तीसरे तथा अन्तिम दौर में प्रेमचन्द न केवल जीवन यथार्थ को अपनी रचनात्मक चेतना का अंग बना लेते हैं प्रत्युत यथार्थ कोरपायित करते समय उनकी आदर्शवादी भंगिमा भी यथार्थवादी हो जाती है, प्रेमचन्द का यह रूप हमें 'शतरंज के खिलाड़ी', 'बड़े भाई साहब', 'बूढ़ी काकी', 'ठाकुर का कुआं', 'सवा सेर गेहूं', 'गुल्ली डण्डा', 'नशा', 'पूस की रात', तथा 'कफन' जैसी कहानियों में मिलता है, 'शतरंज का खिलाड़ी' तत्कालीन ढहती सामंती व्यवस्था के खण्डहर तथा उसकी झूठी शानो-शौकत की कहानी है। जब देश में गरीब से गरीब भी आजादी के लिये कुछ कर गुजरने को तत्पर था तब यहां के जमींदार तथा रियासतों के राजा या तो अंग्रेजी सत्ता की मदद कर रहे थे या आजादी के आन्दोलन से बेखबर अपने विलास में मस्त थे—'शतरंज के खिलाड़ी' के मिर्जा सज्जादअली और मीर रोशन अली राष्ट्र की समस्याओं तथा हलचलों से बेखबर अपनी जायदादों के सहारे

ऐय्याशी कर रहे थे तथा अपने शौक शतरंज में डूबे थे। मीर रोशन अली भी बेगम की कारगुजारियों से घबराकर गोमती के पास कहीं वीराने में जाकर शतरंज में डूब जाते हैं। लखनऊ में ब्रिटिश सेना के प्रवेश के समाचार से भी उन पर कोई फर्क नहीं पड़ता किन्तु शतरंजबाजी की मामूली सी हार-जीत को लेकर वे परस्पर तलवारें खींच लेते हैं, घायल होते हैं और मर जाते है। तत्कालीन सामंती जीवन की विलासिता तथा निष्क्रियता पर यह कहानी व्यंग्य करती है। 'सवा सेर गेहूं' का नायक सवा सेर गेहूं के कर्ज को अपने जीवन में नहीं उतार पाता तथा मरते समय 120 रुपये उसके नाम कर्ज निकलते हैं जिनके लिये उसके बेटे की गर्दन पकड़ी जाती है। 'सद्गति' का दुखी चमार-पंडित घासीराम से साइत पूछने जाता है तो उसे पंडित के घर बेगार मे व्यस्त कर दिया जाता है 'ठाकुर का कुआं' में जोखू ठाकुर के कुएं मे पानी तक नहीं ला सकता। ये कहानियां उस वक्त के समाज की क्रूर तथा भयावह तस्वीर पेश करती है और आर्थिक एवं सामाजिक शोषण में पिसते आदमी की दयनीय स्थिति का अहसास करती हैं।

'पूस की रात' तथा 'कफन' उपर्युक्त कहानियों से आगे की कहानियां है, 'पूस की रात' मे खेत के उजड़ने से हल्कू प्रसन्न है जैसे उसने खेत के मालिक से बदला ले लिया है, उसकी पत्नी दुखी है कि अब मजदूरी करके माल गुजारी भरनी पड़ेगी, पर हल्कू इस भयानक स्थिति के अहसास के बावजूद प्रसन्न है क्योंकि खेत उजड़ने पर अब ठंड की रात में खेत पर सोना तो नहीं पड़ेगा' 'कफन' के घीसू-माधव में तो सारा पारिवारिक और सामाजिक सद्भाव बुझ चुका है। उन दोनों को उस बुधिया के मर जाने की प्रतीक्षा है जिसने उनके घर को व्यवस्था दी। पर उनके लिए बुढ़िया से ज्यादा कीमत भुने हुए आलुओं की है, गर्म-गर्म आलुओं को जल्दी-जल्दी खाने की घटना उनकी असहाय गरीबी का अहसास देती है, घीसू को बीस साल पहले ठाकुर की बारात में खाये व्यंजनों की याद आती है। प्रेमचन्द गरीबी-अमीरी के इस वर्णन में जैसे समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता को पाठक के समक्ष रख देते है। यह कहानी यह भी संकेत करती है कि आर्थिक विपन्नता सारे पारिवारिक तथा सामाजिक रिश्तों और मूल्यों को ध्वस्त कर डालती है। यह व्यवस्था इतनी मारक है कि इसमें आदमी के श्रम की कोई सार्थकता नहीं है। बीस साल तक श्रम करते रहने के बाद भी आदमी भरपेट भोजन नहीं कर पाता तो उसके मन में परिवार तथा समाज के लिये क्या सद्भाव रह जाएंगे, इसीलिये घीसू माधव बुधिया के कफन के लिए मिले पैसों की दारू पी जाते है। घीसू जानता है कि लोग कफन की व्यवस्था फिर कर देंगे। यह समाज व्यवस्था ही ऐसी है जो आदमी को भूख तो मार सकती है पर उसके मरने पर कफन की व्यवस्था अवश्य कर देती है। यह कहानी प्रेमचन्द की कहानी कला का शीर्ष है क्योंकि यहां तक आते आते वे सभी परम्परागत आदर्शों तथा अप्रासंगिक मूल्यों को उतार फेंकते हैं।

इससे स्पष्ट होता है कि प्रेमचंद की कहानी यात्रा पर्याप्त लम्बी है जिसमें उन्होंने यथार्थ के विभिन्न आयामों को रूपायित किया है, किन्तु कहानीकार प्रेमचंद की महत्ता किस बात मे है ? कहानीकार प्रेमचंद की शक्ति कहां है ? जो आज भी उन्हें प्रासंगिक बनाए हुए है, प्रेमचंद ने वेहद कमजोर कहानियां भी लिखीं है तथा आदर्शों के प्रति उनका लगाव आद्यंत बना हुआ है। वे हर कहानी मे अपनी ओर से काफी कहते हैं, वे जिस आदर्श को व्यक्त करना चाहते हैं उसे पूरे बल के साथ स्थापित करने के प्रति उनका तीव्र आग्रह बना रहता है, अन्तिम दौर की कहानियों में भी वे इस आग्रह से मुक्त नहीं हो पाए हैं। 'सवा सेर गेहूं' कहानी के अन्त में वे अपनी टिप्पणी देते हैं, 'यह कोई कपोल-कल्पित कहानी नही है, एक सत्य घटना है, ऐसे शंकरों और ऐसे विप्रों से दुनिया खाली नही हैं।' वे 'कफन' कहानी में भी अपनी टिप्पणी देते हैं, 'जिस समाज में रात दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से बहुत कुछ अच्छी न थी किसानों के मुकाबले मे वे लोग, जो किसानों की दुर्बलताओं से लाभ उठाना जानते थे, कही ज्यादा सम्पन्न थे, वहां इस तरह की मनोवृति पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी।'

आदर्श स्थापना तथा अपनी ओर से टिप्पणी करने के प्रति आग्रह ने उनकी कहानियों को कमजोर किया है, पर प्रेमचंद की शक्ति इस तथ्य में है कि अपनी कहानियों में जीवन का जितना व्यापक तथा विस्तृत फलक प्रेमचंद ने लिया है उतना हिन्दी के अन्य किसी कहानीकार ने आज तक नही लिया है—उनकी कहानियों में राष्ट्रीय आन्दोलन में हिस्सा ले रहे तथा देश की आजादी के लिये जूझने वाले पात्र हैं—'दुनिया का सबसे अनमोल रत्न', 'सोजे वतन', से 'आहुति', 'जुलूस', 'समरयात्रा', 'सत्याग्रह' कहानियों तक के पात्र राष्ट्रीय चेतना के अंग है, प्रेमचंद की कहानियों में ग्रामीण जीवन के सबसे निचले तबके के भूमिहीन किसान, खेतिहर मजदूर हैं तो बड़े-बड़े भूमिपति इन्जीनीयर ठेकेदार, जमींदार, ठाकुर, बनिये, मुंशी, पंडित आदि अपनी-अपनी शोषक भूमिकाओं के साथ प्रस्तुत हैं। उनकी कहानियों में जमींदारों के अमले हैं, सरकारी तंत्र के छोटे बड़े पात्र है, आपसी विद्वेष की आग में जलते मजदूर किसान हैं, रूढ़ियों में ग्रसित गरीब और मेहनती औरतें हैं, विभिन्न धर्मों तथा ऊंची नीची सभी जातियों के लोग अपनी सारी विडम्बनाओं के साथ प्रेमचंद की कहानियों में उपस्थित हैं, सामंती तथा जमींदारी व्यवस्था की शिकार लड़कियां हैं तथा साम्प्रदायिकता, परम्पराओं, रूढ़ियों और शोषण के खिलाफ लड़ने वाले पात्र तक उनके पास हैं—'रानी सारन्धा', 'राजा हरदौल', 'मर्यादा की बेटी', 'पाप का अग्निकुण्ड', 'आल्हा' आदि कहानियां ऐतिहासिक है तथापि प्रेमचंद ने उनकी अवतारणा वर्तमान जीवन की विसंगतियों को खोजने के लिए की है. इन ऐतिहासिक कहानियों मे प्रेमचंद यह खोजते हैं कि सामंती व्यवस्था के वे सूत्र कौन से हैं जो

भारतीय समाज के पतन के लिए उत्तरदायी है. इन कहानियों मे लेखक बराबर सामंतों की सनक, अकारण जिद, मिथ्या शौर्य प्रदर्शन आदि की भर्त्सना करता है। प्रेमचंद ने अपनी कहानियो में जो व्यापक तथा वैविध्यपूर्ण कैनवास ग्रहण किया है वह अप्रतिम है, अनुभव का इतना व्यापक विस्तार निश्चिय ही किसी क्लासिक लेखक के पास ही हो सकता है, प्रेमचंद की महत्ता इससे ही प्रमाणित नहीं होती कि उन्होंने जीवन के व्यापक फलक को लेकर विभिन्न प्रकार के पात्रों को अपनी कहानियो में उतारा प्रत्युत इससे प्रमाणित होती है कि वे इन सभी पात्रों को अच्छी तरह से जानते हैं। पात्रो के आसपास को जानते हैं तथा पात्रों के परस्पर सम्बन्धों को अच्छी तरह पहचानते हैं। इसलिए प्रेमचंद की कहानियों में जीवन की समस्याओं से जूझते जितने पात्रो की सर्जना हुई है, उतनी उनके बाद के किसी कहानीकार की कहानियों मे नही है। पात्रों की समस्याओं तथा पात्रों के परस्पर रिश्तों की नजदीकी पहचान के कारण यह सम्भव हुआ है कि प्रेमचंद की कहानियां अत्यन्त सहज है। सहजता प्रेमचंद के व्यक्तित्व तथा कृतित्व का आवश्यक गुण है। कोई भी कहानी ऐसी नही लगती जिसे पढ़ते हुए लगे कि प्रेमचंद ने उसे गढ़ा है, सहजता ही प्रेमचंद की कहानियों का शिल्प है।

प्रेमचद कहानी के माध्यम से पाठक तक पहुचना चाहते हैं तथा वे बराबर पाठक की ओर मुखातिब रहते हैं. वे पाठक तक अपनी बात कभी कुछ प्रसगो के सहारे तो कभी हास्य-व्यंग्य के द्वारा तो कभी आलोचना के द्वारा पहुंचाते हैं, तो कभी कभी सीधे पाठक को सम्बोधित करने लगते हैं। जैसे 'ठाकर का कुआ' कहानी के अन्त में। पीछे मैंने इस प्रसंग का जिक्र किया है कि इस तरह की टिप्पणियां उनकी कहानियो को कमजोर बनाती हैं, पर इस तरह की टिप्पणिया उनकी कहानियों के शिल्प का अविभाज्य अंग हैं।

व्यंग्य प्रेमचंद की कहानियों के शिल्प का एक महत्वपूर्ण पहलू है। प्रेमचंद का व्यंग्य भाषा के स्तर पर भी है तो शिल्प के स्तर पर भी। मोटेराम शास्त्री जैसे परजीवी पात्रों की कल्पना लेखक ने की है तथा 'नियंत्रण' और 'सत्याग्रह' जैसी कहानियो में उन्होने परजीवी एवं सरकारी तंत्र के पिछलग्गू लोगो का खूब मजाक उड़ाया है। 'नशा' कहानी में एक मध्यवर्गीय चरित्र के मानसिक विपर्यय पर व्यंग्य है। 'शतरंज के खिलाड़ी' कहानी ढहती सामंती मनोवृत्ति के खोखलेपन पर चोट है। 'गुल्ली डंडा' कहानी का व्यंग्य सीधे अमीर तथा नौकरशाह मानसिकता पर प्रहार करता है। 'बड़े भाई साहब' और 'दीक्षा कहानिया झूठे आदर्शों से अपनी रक्षा करने वाले निष्क्रय पात्रों पर तीखा व्यंग्य करती हैं। यथार्थवादी कथाकार के पास व्यंग्य ही वह कारगर हथियार होता है। जिससे वह जीवन की विसंगतियों पर प्रहार कर सकता है, निश्चित ही प्रेमचन्द ने अस्त्र का कारगर उपयोग किया है।

प्रेमचंद की कहानियों की सबसे बडी शक्ति इस तथ्य मे है कि वे कहानी लिखते नहीं, कहते हैं। डॉ. रामविलास शर्मा ने 'सवा सेर गेहूं' के प्रारम्भिक ग्रंश 'किसी गांव मे शंकर नाम का एक कुरमी किसान रहता था। सीधा-सादा, गरीब ग्रादमी था, ग्रपने काम से काम, न किसी के लेने मे न किसी के देने में'—उद्घृत करते हुए लिखा है, 'कथा कहने का ढंग हिन्दुस्तान के हर गांव मे कहानी कहने वाला ग्रौर सुनने वाला जानता है' प्रेमचंद की हर कहानी का लहजा इतना सहज ग्रौर सरल है कि पाठक को खीचता है, प्रेमचंद के दिमाग में शायद यह बात रही हो कि वे केवल बुद्धिजीवी वर्ग के लोगों के लिए कहानी नही लिख रहे, वे देश के ग्रर्द्ध-शिक्षित, ग्रनपढ़ तथा गांवों मे बसने वाले साधारण व्यक्ति तक ग्रपनी बात पहुंचाना चाहते थे। इसलिये उन्होंने इस पद्धति को ग्रपनाया जिससे यहां का पाठक या श्रोता ग्रच्छी तरह परिचित था। प्रेमचंद की कहानी कहने की यह पद्धति पाठक समुदाय तैयार करती है तथा पाठकों की संख्या मे वृद्धि करती है, प्रेमचंद की कहानियो की शक्ति इसमें है कि वे पाठक को ग्रपनी ग्रोर खींचती है। प्रेमचंद के बाद की कहानी का पाठक निरन्तर बुद्धिजीवी वर्ग की सीमाग्रों में सिकुड़ता गया है, प्रेमचद की यह ग्राख्यान पद्धति प्रारम्भिक कहानियों से लेकर ग्रन्तिम कहानियों तक बनी हुई है, जो ग्राख्यान मूलक लहजा 'दुनिया का सबसे ग्रनमोल रतन' कहानी मे था, वह 'कफन' कहानी में भी विद्यमान है, यह प्रेमचंद की सीमा नही शक्ति है, उस समय किस्सागोई का जो ढांचा प्रेमचंद को उपलब्ध था उसका उपयोग प्रेमचंद ने ग्रपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये किया।

प्रेमचंद के काल मे हिन्दी कविता ही नहीं हिन्दी गद्य की भाषा पर ग्रभिजात्य तथा सामंती कृत्रिमता हावी थी। प्रसाद की कहानियों की भाषा में बनावटी गम्भीरता ग्रौर संस्कृत निष्ठता है, जबकि प्रेमचंद ने भाषा के तमाम सामंती ग्रौर कृत्रिम प्रभावों से मुक्त कर उसके सरल तथा विकसित रूप को ग्रभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। प्रेमचंद ने भाषा के स्तर पर लोक जीवन में फैले ग्रभिव्यक्ति के उपकरणों को स्वीकार किया तथा भाषा को बंधे-बंधाए साहित्यिक ग्रादर्शों से मुक्त किया। यद्यपि प्रेमचंद की कहानियों में भाषा का परम्परागत रूप भी मिल जाता है पर यह प्रेमचंद की भाषा का प्रतिनिधि तेवर नही है। उनकी भाषा का ग्राधार जनसाधारण की बोली है—उसमे वही मुहावरे, वही लोकोक्तियां है तथा वह जन भाषा का ही विकसित रूप है। यदि प्रेमचंद के पास इतनी समर्थ भाषा न होती तो जितने वर्णन उन्होंने कहानियो में दिए हैं, वे कहानियों को बहुत कमजोर कर देते। भाषा की रवानी टटकापन, सहजता, प्रभाव पूर्णता, ग्रभिव्यक्ति सामर्थ्य, व्यंग्यभंगिमा ग्रादि गुणो को हम उनकी ग्रकेली 'बड़े भाई साहब' कहानी में देख सकते हैं।

प्रेमचन्द : व्यापक जीवन-दृष्टि का विकास

कला के बाबत में घनानन्द की यह उक्ति कभी सही नहीं होगी—"लोग है लागि कवित्त बनाव मोहि तो मेरे कबित्त बनावत"—किन्तु आज कल तथा जीवन जिस मंजिल पर पहुंच गये हैं वहां न तो 'कला के लिए' जैसी धारणाओं की कोई अहमियत रह गयी है और न इस तरह, की बेकार बहसों का कोई मतलब ही कि कला की रचना, इश्क की तरह, की नहीं जाती हो जाती है। यह तो सही है कि सच्चे रचनाकार में एक जन्मजात प्रतिभा होती है जो उसे उसका रचना संसार गढ़ने की प्रेरणा देती है, किन्तु रचना कलाकार की प्रतिभा मात्र का ही परिणाम नहीं है। असल बात तो यह है कि कलाकार जिन्दगी को किस नजरिये से देखता है तथा जिन्दगी और कला के बीच तादात्म्य वह किस नजरिये से स्थापित करता है। अतः प्रतिभा सम्पन्न कलाकार को ऐसी जीवन-दृष्टि की आवश्यकता होती है जो उसकी सृजन-क्षमता को एक निश्चित दिशा प्रदान करती है। यही जीवन दृष्टि रचनाकार को वह सामर्थ्य प्रदान करती है जिसके द्वारा वह अपने समय की समस्याओं से जूझता हुआ कला में जीवन के बेहतर आयामों को देखता है तथा अपने देश व काल का अतिक्रमण कर कालजयी रचनाओं की सर्जना करता है।

यह जीवन दृष्टि कलाकार में धीरे-धीरे विकसित होती है तथा रचनाकार का अनुभव तथा साधना इस जीवन दृष्टि की खोज में सतत् सक्रिय रहते हैं। रचनाकार *द्वारा किसी विचार अथवा दर्शन विशेष को स्वीकार कर उसके सिद्धान्तों को रचना* में अभिव्यक्ति देना दृष्टि सम्पन्न श्रेष्ठ कलाकृति को जन्म नहीं दे सकता। यदि ऐसा होता तो अरविन्द-दर्शन के सिद्धान्तों की स्थूल अभिव्यक्ति से सम्पन्न पंत का 'लोकायतन' विश्व का सर्वश्रेष्ठ काव्य होता।

जीवन-दृष्टि के विकास में कलाकार के व्यक्तिगत जीवन संघर्ष तथा उसके समय की सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याओं का बहुत बड़ा योगदान होता है। जो कलाकार अपने समय की समस्याओं से पलायन करते हैं उनकी प्रासंगिकता

सदैव संदिग्ध रहती है। अपने अनुभव तथा अध्ययन के सहारे कलाकार अपने दृष्टिकोण में निरन्तर परिवर्तन, संशोधन या परिवर्धन करता रह सकता है। सार्त्र का उदाहरण इस दृष्टि से महत्व रखता है।

प्रेमचन्द ऐसे रचनाकार थे प्रारम्भ से ही अपने समय की समस्याओं के प्रति पूरी तरह जागरूक थे। जिस काल में प्रेमचंद का उदय हुआ, वह सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से पर्याप्त हलचल का काल था। भारत का हर सवेदनशील नागरिक थोडा-बहुत भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन से वावस्ता था तथा अपनी जन्म भूमि को विदेशी सत्ता से मुक्त करने का जज्बा उसकी चेतना का प्रमुख स्वर था। उस काल का रचनाकार इसी राष्ट्र-प्रेम के जज्बे को केन्द्र में रखकर लिखता था तो इसी जज्बे के साथ स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लेता था। प्रेमचद मे भी देश-भक्ति का यह आवेश पूरी तरह हावी था। इसीलिए उन्हें सरकारी नौकरी छोड़नी पड़ी। उनकी 'सोजे वतन' कृति जब्त कर ली गयी तथा उन्हे अनेक छद्म नामो से लिखना पड़ा। उनकी 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' कहानी प्रेमचंद की जीवन-दृष्टि के विकास का प्रारम्भिक पड़ाव है। इस कहानी की राजकुमारी दुनिया का सबसे अनमोल रतन लाने वाले युवक से शादी करने की घोषणा करती है। वह उस व्यक्ति की सौगात को सबसे अनमोल मानती है, जो मातृभूमि की रक्षा के लिए जान देने वाले शहीद के रक्त की बूंदे लाया था। यह कहानी लोक-कथात्मक कल्पना है, पर प्रेमचंद के हृदय के जज्बे को प्रकट करती है कि वे उस काल की प्रमुख धारा भारत के स्वतन्त्रता-आन्दोलन से रचनात्मक स्तर से सीधे जुड़े हुए थे। उस काल में प्रेमचंद ने ऐसी अनेक रचनाएँ दी जिनके पात्र काल्पनिक हैं, जिनकी घट-नाएँ काल्पनिक है पर देश प्रेम का भाव उनमें पूरी गहराई के साथ अभिव्यक्त हुआ है। इन रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है कि प्रेमचंद अपने समय की मूलभूत सच्चाई से (राष्ट्र-भक्ति या देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति) अभिभूत थे, भले ही उनकी रचनात्मक क्षमता इस सच्चाई को रचनाओं में कल्पना के स्तर पर ही उतारती रही थी।

किन्तु उन्हें शीघ्र ही आभास हो गया कि उनकी रचनात्मक क्षमता के उपयोग के लिये राष्ट्र-भक्ति का यह जज्बा काफी था। उन्होंने कल्पना की दुनिया छोड़ दी और वे धीरे-धीरे असल जिन्दगी की जमीन पर उतरने लगे तथा उन्होंने जीवन के बड़े दायरे की समस्याओं का अनुभव किया। परतन्त्रता से उतर और भी महत्वपूर्ण समस्याएँ (भारतीय जीवन की) उनके सामने स्पष्ट होने लगीं तथा भारतीय समाज का दयनीय रूप उनके लिए चुनौती बनने लगा। प्रेमचंद ने देखा कि अंधविश्वास, अशिक्षा, गरीबी, जाति प्रथा, सती प्रथा, बाल विवाह, छुआछूत, वेश्यावृत्ति, विधवा-जीवन, सामंती शोषण, आर्थिक असमानता आदि अनेक भयावह समस्याओं से ग्रसित भारतीय समाज दुर्दशा की स्थिति में है। उन्होंने देखा कि

भारतीय समाज हर दृष्टि से पिछड़ा हुआ था। संयुक्त परिवार टूट रहे थे, लोग सामाजिक मूल्यों तथा आदर्शों को छोड़ रहे थे, तथा सास्कृतिक दृष्टि से खोखलापन समाज को घेर रहा था। उन्हें लगा कि यदि इस समाज का पिछड़ापन दूर नहीं होता तो उसके लिए स्वतन्त्रता कोई अर्थ नहीं रखती। अतः उन्हें लगा कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के साथ साथ समाज को इन विषमताओं से मुक्त करना भी जरूरी है। इस दौर में प्रेमचंद पर उन समाज-सुधारकों का प्रभाव भी पड़ा जो समाज-सुधार के प्रति समर्पित थे। राष्ट्र-प्रेम के पश्चात् प्रेमचद में समाज सुधार का जज्बा उत्पन्न हुआ। उन्होंने अपनी रचनाओं मे समाज में व्याप्त समस्याओं पर चोट की तथा समाज को इन समस्याओं से मुक्त होने का मार्ग सुझाया। यहां तक आते-आते प्रेमचंद जीवन की वास्तविक समस्याओं से जुड गये थे, पर इन समस्याओं के समाधान के विषय मे उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी था। प्रेमचंद का युग सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से उथल-पुथल का युग है, उस युग का संघर्ष बहुआयामी है। एक ओर विदेशी सत्ता से राजनीतिक सघर्ष था तो दूसरी ओर अनेक रूढ़ियों तथा विषमताओं से ग्रसित पिछड़ा हुआ समाज था जिसे तत्कालीन राजनीतिक संघर्ष के लिए भी तैयार करना था तो उसके पिछड़ेपन को भी दूर करना था। प्रेमचद की दृष्टि दोनों स्तरों पर सक्रिय थी। किन्तु भारतीय समाज के पिछड़ेपन को दूर करने के विषय में जो दृष्टि उनके पास थी वह भारतीय परम्परा से जुड़ी आदर्शवादी तथा सुधारवादी दृष्टि थी। अतः उनकी जीवन-दृष्टि के विकास का दूसरा सोपान, यद्यपि कल्पना से यथार्थ पर आ जाता है, परम्परागत मूल्यों तथा आदर्शों के मोह से युक्त है। 'बड़े घर की बेटी', 'पंच परमेश्वर' जैसी कहानिया 'प्रेमाश्रम', 'कर्मभूमि', 'सेवा सदन' जैसे उपन्यास उनकी इसी आदर्शवादी तथा सुधारवादी दृष्टि को अभिव्यक्त करते है। उनकी इसी जीवन-दृष्टि को आलोचकों ने 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' की संज्ञा दी है।

एक वक्त था जब गाधीजी तथा भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन पर्याय थे। उस दौरान इस देश का कोई भी विचारक, चिन्तक, सामाजिक कार्यकर्त्ता, देशभक्त, राजनीतिज्ञ तथा सोचने समझने वाला सामान्य व्यक्ति ऐसा नहीं बचा जिस पर गांधीजी का प्रभाव न पड़ा हो। गाधीजी का व्यक्तित्व बहुआयामी था तथा वे भी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ ही भारतीय समाज की हर छोटी-बड़ी समस्या को हल करना चाहते थे। प्रेमचंद गाधीजी के प्रभाव से अछूते न रहे तथा 1916-17 से लेकर 1930-31 के आसपास तक के काल की उनकी रचनाओं पर गांधीजी का स्पष्ट प्रभाव दिखायी देता है। प्रेमचद गांधीजी के प्रभाव को नकारते भी नहीं है। गांधीजी की सबसे बड़ी उपलब्धि तो यह है कि उन्होंने भारत के जन-जन को स्वतन्त्रता-आन्दोलन से जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य किया। शायद इसीलिए प्रेमचंद

पर उनका गहरा प्रभाव पड़ा। हिन्दी के अधिकांश परम्परावादी आलोचक प्रेमचंद को गांधीवादी लेखक सिद्ध करते आये हैं। यह सही है कि प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में गांधीवादी सिद्धान्तों का समर्थन किया है—'लाल फीता' कहानी में असहयोग आन्दोलन, स्वराज्य से सम्बन्धित उनके लेख, स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग पर उनके द्वारा अपनी रचनाओं में बल, 'दुस्साहस', 'मैं कू' तथा 'शराब की दुकान' जैसी कहानियों में शराब का विरोध 'लागडाट' तथा 'आदर्श विरोध' आदि में गांधीजी के स्वतन्त्रता-आन्दोलन की पक्षधरता, 'जागरण' में हरिजन समस्या पर उनके लेख, 'कायाकल्प' में संकीर्ण साम्प्रदायिकता का विरोध, 'निर्मला', 'नया विवाह' 'नरक का मार्ग', 'कुसुम', 'सती', 'विद्रोही', आदि रचनाओं में बाल विवाह, सती प्रथा, दहेज प्रथा, आदि का विरोध तथा समाज में नारी की गरिमा स्थापना, 'सेवा सदन' में वेश्या-जीवन की भयावहता तथा वेश्याओं को सामाजिक प्रतिष्ठा दिलाने का प्रयास आदि प्रेमचंद को गांधीवादी लेखक प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है।

किन्तु विडम्बना यह है कि लोग प्रेमचंद की रचनाओं में उन अंशों को छांट-छांट कर रेखांकित करते हैं जो उन्हें गांधीवादी लेखक सिद्ध करते हैं पर उनकी रचनाओं के उन अंशों या उन रचनाओं पर पूरी तरह विचार नहीं करते जो प्रेमचंद को गांधीजी से आगे ले जाती है। स्वतन्त्रता के पश्चात बारबार गांधीवाद की प्रासंगिकता को लेकर बहसें उठी हैं और स्वतः ही ठंडी पड़ गयी है। गांधीजी जड़ता की सीमा तक आदर्शवादी थे अतः गांधीवाद की प्रासंगिकता प्रमाणित नहीं हो पाती। यदि प्रेमचंद गांधीवादी रहे होते तो वे आज भी उसी तरह अप्रासंगिक हो गए होते जैसे गांधीवाद हो गया। गांधीजी घोर आदर्शवादी थे तथा उनका चिन्तन एक स्तर पर आकर ठहर जाता है इसीलिए समय के प्रवाह में वे अपनी प्रासंगिकता खो बैठे हैं। किन्तु प्रेमचंद ने अपनी दृष्टि को कोरे आदर्श पर बांधकर गतिहीन होने से बचा लिया। वे गांधीवाद से आगे जाते हैं, इसीलिए उनकी रचनाएं सब समय के लिए अपरिहार्य बन जाती है।

आजादी के आन्दोलन के दौरान कांग्रेस से जुड़कर तथा गांधीजी से प्रभावित होने के कारण प्रेमचंद कांग्रेस के अन्तर्विरोधों तथा गांधीवाद की सीमाओं को अच्छी तरह समझ गए। उन्हें स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस पूंजीपतियों, जागीरदारों तथा सामंतों की संस्था है तथा प्रकारान्तर से इन्हीं वर्गों के हितों की रक्षा करती है। गांधीजी के लिए धर्म और अध्यात्मक के बिना जीवन की किसी भी समस्या का समाधान नहीं हो सकता जबकि प्रेमचंद के लिए धर्म, पूंजीवादी तथा सामंती व्यवस्था का तथा शोषण का ही एक तरीका था। गांधीजी का ट्रस्टीशिप का सिद्धांत पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के अनुकूल था। अतः प्रेमचन्द के लिए यह सिद्धान्त वर्गहीन

समाज के निर्माण में बाधक था। प्रेमचंद के लिए गांधीवादी जीवन-दृष्टि एकांगी रह गई थी। इसलिए उन्हें जीवन-दृष्टि की तलाश में आगे जाना पड़ा। इसी तलाश में प्रेमचंद को स्पष्ट हो गया कि समाज की समस्याओं का मूल कारण आर्थिक विषमता है तथा सामंतवाद, जमींदारी प्रथा तथा पूंजीवादी व्यवस्था मानव शोषण की व्यवस्थाएं हैं तथा इनसे मानव-कल्याण नहीं हो सकता। यहीं से प्रेमचंद की राह गांधीजी की राह से अलग हो जाती है क्योंकि अब प्रेमचंद आदर्शवादी दृष्टि के केंचुल से भी मुक्त हो चुके थे तथा उनके सामने यथार्थ की कठोर जमीन थी।

प्रेमचद की जीवन-दृष्टि का तीसरा पड़ाव गांधीवाद का अतिक्रमण करता है। गांधीवाद जहा जाकर ठहर जाता है, प्रेमचद की वही जीवन-दृष्टि वही से प्रारम्भ होती है। इस पड़ाव तक आते-आते प्रेमचद प्रारम्भिक भावुकता तथा वायवी आदर्शवाद से मुक्त हो चुके थे। जीवन की समस्याओं को उन्होंने समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता के तथा वर्ग-चेतना के नजरिए से देखना शुरू कर दिया। यहां हम हरिजन समस्या तथा छुआछूत समस्या को ले सकते है—गांधीजी हरिजन तथा छुआछूत समस्या को नैतिक सामाजिक तथा धार्मिक समस्या मानते हैं जबकि प्रेमचंद के लिए छुआछूत की समस्या मूलरूप से आर्थिक विषमता का ही परिणाम थी। उन्होने 'जागरण' में इस सम्बन्ध में अपने विचार लिखे भी। गांधीजी ने छुआछूत मिटाने के लिए जो तरीके सुझाये (जैसे पूंजीपतियों द्वारा हरिजन छात्रों के लिए अलग छात्रावासों का निर्माण) वे इस समस्या को और पक्का कर रहे थे जबकि प्रेमचद इन साधनो की निरर्थकता पर बल दे रहे थे। स्पष्ट है कि सारे गांधीवादी तरीको के बावजूद छुआछूत की समस्या आज भी ज्यों की त्यों है। प्रेमचंद की दृष्टि में इस समस्या का समाधान आर्थिक समानता द्वारा ही सम्भव है। गांधीजी वर्ण-व्यवस्था के समर्थक थे। जबकि प्रेमचंद की दृष्टि मे जाति-प्रथा सामाजिक न्याय की दृष्टि से न केवल निरर्थक है प्रत्युत समाज के विकास में बाधक है।

अतः प्रेमचंद की सार्थक जीवन-दृष्टि का परिचय तब मिलता है जब वे गाधीवाद का अतिक्रमण करते है। प्रेमचंद का यह अपराध नही था कि उन्होंने गांधी का प्रभाव ग्रहण किया किन्तु यह प्रेमचंद की क्षमता थी कि उन्हे भारत की राजनीतिक समस्याओ के समाधान के सन्दर्भ मे रूसी तरीका प्रीतिकर लगा। यह प्रेमचंद की व्यापक दृष्टि का प्रमाण है कि जिस युग में देश का सारा सर्जनात्मक चिन्तन या तो गांधीजी के अमूर्त आदर्शवाद से या रवीन्द्र के वायवी मानववाद से अभिभूत था, प्रेमचंद यथार्थ की वास्तविक जमीन तलाशने मे सफल हुए तथा उन्होंने अपनी रचनाओं में जनवादी जीवन-दृष्टि को अभिव्यक्ति दी। 'पूस की रात' तथा 'कफन' जैसी कहानियों, 'गोदान' तथा मंगल सूत्र' जैसे उपन्यासों में एवं 'साहित्य

का उद्देश्य' तथा 'महाजनी सभ्यता' जैसे लेखों ने इस व्यापक जीवन-दृष्टि की चरम अभिव्यक्ति मिलती है। यहां यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि हम प्रेमचंद को केवल उनकी कहानियों तथा उनके उपन्यासों के माध्यम से ही समझने की चेष्टा करते हैं जबकि उनको समझने में 'जागरण' में लिखी टिप्पणियों तथा उनके अनेक निबन्ध ज्यादा सहायक हो सकते हैं।

प्रेमचंद की यह व्यापक जीवन-दृष्टि क्यों विकसित हुई ? पहली बात तो यह है कि प्रेमचंद का व्यक्तिगत जीवन आर्थिक तथा सामाजिक जीवन संघर्ष का संघात था। दूसरे उन्हें सामाजिक तथा राजनीतिक उथल-पुथल के युग में राष्ट्र के स्तर पर होने वाले संघर्ष का भागीदार बनाना पड़ा अतः प्रेमचंद ने व्यक्तिगत, सामाजिक तथा रचनात्मक तीनों स्तरों पर संघर्ष किया। इस संघर्ष का ही परिणाम था कि प्रेमचंद का सोच इस परिपक्व स्थिति पर पहुंच गया कि उन्हें समस्याओं का उत्स तथा उनका समाधान स्पष्ट हो गये। प्रेमचंद आज भी प्रासंगिक इसलिए है कि भारतीय समाज की समस्याएं कमोबेश आज भी वही हैं जो प्रेमचंद के काल में थीं तथा इनका समाधान भी उन्हीं तरीकों से सम्भव है जो प्रेमचंद को उपयुक्त लगे थे। 'गोदान' में चित्रित बिखरते सामंतवाद तथा उभरते पूंजीवाद का गठजोड़ आज भी भारतीय मजदूर और किसान का शोषण कर रहा है। वहां प्रेमचंद किसानों-मजदूरों का पक्षधर बनकर सामंतवाद तथा पूंजीवाद का विरोध करते हैं तथा 'गोदान' में शोषण के खिलाफ किसान-मजदूरों के संगठित करने की बात उठाते हैं तो 'मंगल सूत्र' में शोषकों (दरिद्रों) के खिलाफ हथियार उठाने की बात कहते हैं। अपनी रचनाओं में शोषकों के खिलाफ जो तल्ख स्वर है वह इसी दृष्टि का परिणाम है। 'कफन' कहानी के ये शब्द उनकी इस पक्षधरता को रेखांकित करते हैं, 'कैसा बुरा रिवाज है कि जिसे जीते-जी तन ढांकने को चीथड़ा भी न मिले उसे मरने पर नया कफन चाहिए' अथवा 'जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से बहुत अच्छी न थी और किसानों के मुकाबले वे लोग जो किसानों की दुर्बलताओं का लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा सम्पन्न थे, इस तरह की मनोवृत्ति पैदा हो जाना कोई अचरज की बात न थी।''

जिस युग में अधिसंख्य रचनाकार आदर्शों की दुनिया में भटक रहे थे, या वायवी मानववाद के स्वप्न देख रहे थे, प्रेमचंद खरी दृष्टि लिए यथार्थ की जमीन पर जीवन की वास्तविक समस्याओं के सामने खड़े थे। इसका कारण यह है कि उन्होंने तटस्थ दृष्टि से समझ लिया था कि इन समस्याओं का मूल कारण समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता है तथा वर्ग-चेतना के बिना इन समस्याओं का

करण सम्भव नहीं। प्रेमचंद में रचनात्मक जज्बा राष्ट्र प्रेम की उद्दामता लेकर जन्मा था वह आदर्शवाद की गलियों में भटकता हुआ वर्ग-चेतना की ठोस तथा यथार्थवादी मंजिल पर आकर रुका। इसी वर्ग-चेतना का परिणाम है कि प्रेमचंद की पक्षधरता उनकी रचनाओं में साफ-साफ दिखाई दे जाती है तथा उनकी व्यापक जीवन-दृष्टि का विकासमान स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। फिर चाहे हम 'गोदान' या 'मगंल सूत्र' उपन्यास पढे, 'पूस की रात' या 'कफन' कहानी पढ़े, 'महाजनी सभ्यता' या 'साहित्य का उद्देश्य' लेख पढ़े—प्रेमचंद युगों-युगों तक प्रासंगिक बने रहेंगे।

डॉ० हेतु भारद्वाज

जन्म—15 जनवरी, 1937 उत्तर प्रदेश के रामनेर गाँव में।

शिक्षा—राजस्थान विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम.ए. तथा पी-एच.डी.

सम्प्रति—राजकीय महाविद्यालय, नीमकाथाना (राजस्थान) में अध्यापन।

रचनाकर्म—राजस्थान से हिन्दी की युवा कहानी को इमेज देने वाले अग्रणी कथाकार।
'तटस्थ' त्रैमासिक का सम्पादन तथा 'आज की कविता' आन्दोलन का प्रस्तावन।
हिन्दी की सभी अग्रणी पत्रिकाओं में कहानियां, कविताएँ, एकाकी, व्यंग्य, समीक्षात्मक निबन्ध तथा टिप्पणियों का नियमित लेखन।

प्रकाशित कृतियां—तीन कमरों का मकान, ज़मीन से हटकर, चीफ़ साब आ रहे हैं, तीर्थयात्रा, सुबह-सुबह (कहानी संग्रह), बनती-बिगड़ती लकीरें (लघु उपन्यास), ज़मीन से हटकर राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा दो हजार रुपये के अकादमी पुरस्कार से पुरस्कृत स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी में मानव प्रतिमा (शोध प्रबंध), डॉ कन्हैयालाल सहल : व्यक्तित्व और कृतित्व (सम्पादन)।